आर्यसिद्धान्त ग्रन्थावलि का प्रथम पुष्प

ओ३म्

# भूमिकाप्रकाशः

( भूमिकाभासाभासापरपर्यायः )

सिद्धान्तशिरोमणिपदविभूषितेन प्रतिष्ठितस्नातकेन मुम्बापुरीस्थ
एन. एम. कॉलिजाख्य प्रोफेसरमहोदयेन वैद्यशास्त्रिणा
श्रीपण्डित द्विजेन्द्रनाथशर्म्मणा विरचितः ।

तदीयानुज्ञेन
श्रीपण्डितराजेन्द्रनाथवैद्यभूषणेन च प्रकाशितः ।
सच

मुम्बापुर्यां
मुम्बईवैभव मुद्रणालये "रा. रा. चिन्तामणि सखाराम
देवळे" इत्येतैर्मुद्रितः

१९८१ विक्रमाब्दे

मूल्यं सार्द्धरूप्यकम् ।

मुद्रक—चिंतामण सखाराम देवळे, मुंबईवैभव प्रेस, सँडहर्स्ट रोड,
सर्व्हंट्स् ऑफ इंडिया सोसायटीज् बिल्डिंग्ज्, गिरगांव, मुंबई.

प्रकाशकः—पण्डित राजेन्द्रनाथ वैद्यभूषण
३२० कालबादेवी रोड मुम्बई नं. २

# नम्रनिवेदन

संम्वत् १८७७ वि० में आगरानिवासी पं० घनश्यामजीने श्रीमद्दया-नन्द सरस्वतीकी रची हुई ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकापर एक समालोचना-त्मक ग्रन्थ लिखा था। जिसका नाम 'भूमिकाभास' अथवा दूसरा नाम 'भूमिकाधिकारापरपर्य्याय' है वाचकवृन्द पुस्तकके नामसेही समझ सकते हैं कि उसके अन्दर किस प्रकारके भाव अङ्कित किये गये होंगे उसमें ऋषिदयानन्दपर ऐसे अनुचित आक्षेप किये हैं, कि जैसे आजतक किसीने नहीं किये। पुस्तकके साद्यन्त अवलोकनसे प्रत्येक विचारशील पुरुष सरलतासे इस परिणामपर पहुंचेगा कि यह पुस्तक एक लेखककी कृति नहीं है। इसमें कितनेही लेखकोंका हाथ है। जिसके लिये उसकी लेखशैली तथा विविध प्रकारका पदविन्यास ही प्रमाण है। जिससमय यह पुस्तक निकली थी उससमय इसके ऊपर अच्छी खासी चर्चा समाचारपत्रोंमें चली थी। जहांतक मुझे स्मरण है इस विषयमें दो एक लेख मेरे भी छपे थे। तथा अन्य कतिपय विद्वानोंनेभी अपनी लेखनी उठाई थी किन्तु एसी विषैली पुस्तकका जिससे साधारण जनतामें बहुत कुछ गलत फ़हमी फैलजाना सम्भव है लिखित पुस्तकद्वाराही उत्तर दिया जाना चाहिये ऐसी कितनेही महानुभावोंकी सम्मति हुई। क्योंकि कि उक्त पुस्तकके संस्कृतमें होनेके कारण कई आर्य महानुभाव इस सन्देहमें निमग्न होरहे थे क्या महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी संस्कृतमें इतनी गल-तियां कर गये हैं! आश्चर्यकी बात है॥ इतनेसेही आप अनुमान कर सकते हैं कि इसका कितना भयङ्कर परिणाम होता। और सनातनी पण्डितोंके लिये यह कितना हर्षका कारण हो सकता था। गुरुवृन्दावनके उत्सवपर श्रीमान् पूजनीय नारायण स्वामीजीने विशेषरीतिसे कहा कि इस पुस्तकका

उत्तर अवश्य लिखना चाहिये । इसी प्रकार श्री-पं० घासीरामजी M. A. L. L. B. तथा श्री० पं० छुट्टनलालजीने भी इसके लिये प्रेरणा की । श्री पूज्य पिताजी श्री पं० जानकीप्रासादजी मिश्रने आग्रहपूर्वक कहा जब कि उक्त पुस्तकमें यह चेलञ्ज दिया है ' यदि इस पुस्तककी यथार्थ समालोचना या खण्डन कोई गुरुकुलकांगडी या गुरुकुल वृन्दावन या महाविद्यालयके पण्डित या स्नातक करेंगे तो हम उन्हें धन्यवादही न देंगे किन्तु उनकी चरण पूजा करेंगे " तो आप लोगोंका फ़र्ज़ है कि ऋषि दयानन्दके साहित्यको उत्तर देकर समुज्ज्वल करें इन महानुभावोंकी प्रेरणा या आशीर्वादकाही यह फल है कि आज यह ग्रन्थ संस्कृत तथा आर्य भाषामें तय्यार कर आर्य जनताके करकमलोंमें अवलोकनार्थ समर्पित है ।

**ग्रन्थप्रयोजन**

निस्सन्देह पं० घनश्यामजीने महर्षि दयानन्दके लेखोंपर अनुचितसे अनुचित तथा वञ्चनापूर्ण आक्षेप किये हैं । इन्होंने ऋषि दयानन्दको व्याकरणसे शून्य, साहित्यशास्त्रमें बिल्कुल कोरे तर्कशास्त्रसे सर्वथा अनभिज्ञ तथा वेदोंमें नितान्त अकुशल बनानेका यत्न किया है और उनको कपटभिक्षु नामसे पुकारा है । और बतलाया है कि ऐसे ज्ञानहीन पाखण्डीको किस प्रकार धर्म्माचार्य बनाया जा सकता है ? इत्यादि । इस घनश्यामजीके लेखसे प्रतीत होता है कि वे अपने आपको संस्कृतके बहुत बड़े पण्डित समझे हुए हैं और आर्यसमाजमें मानो संस्कृतके विद्वानोंका अभाव होगया है इनके इस अभिमानका दलन किस प्रकार किया गया है यह भूमिकाप्रकाशके देखनेसेही प्रकाशित होगा । निस्संदेह घनश्याजीने भूमिकाभासको लिखकर अवश्यही विद्वन्मण्डलीके हास्यास्पद बनें और अपना फूवड़पनाही साबित किया । कुछ व्याकरणकी अशुद्धियां, कुछ साहित्यकी तथा कुछ तर्ककी अशुद्धियां जिनको लघुकौमुदी पढ़नेवाला बालकभी कदाचितही अशुद्धियां कहे निकाल कर विद्वन्मण्डलपर आतङ्क जमानेकी कोशिश की है सिद्धान्तका तो कहीं स्पर्शभी नहीं किया यदि

कहीं कियाभी है तो इतना ढीला तथा लचर तर्कों में कि जिनका उत्तर आर्यसमाजका बालकभी हंसता हुआ दे सकता है । यद्यपि साधारण दृष्टिसे देखनेसे प्रथम आपके किये हुए आक्षेप मार्मिक मालूम होते हैं किन्तु गम्भीर दृष्टिसे देखने से उनमेंकोई तत्व नहीं रह जाता नितान्त निस्सार जापड़ते है । उनमें कदलीदलके समान अन्तमें कुछभी नहीं निकलता । जिनके यहां उल्लेखकी हम कुछ आवश्यक्ता नहीं समझते ? क्योंकि वाचकवृन्द स्वयं पुस्तक पढ़कर अनुभव कर लेंगे ।

यद्यपि इस पुस्तकमें सब आक्षेपोंका उत्तर नहीं दिया गया । क्योंकि निस्सार बातें लिखकर न हमें व्यर्थ ग्रन्थ बढ़ाना

**आवश्यक बात**

ही इष्टथा और न अपने पाठकोंका बहुमूल्य समयही नष्ट कराना । तथापि हम परमात्माकी कृपासे प्रायः खास खास सभी आक्षेपोंका तर्क प्रमाणसहित सदुत्तर देनेमें समर्थ हुए हैं। आशा है विद्वान् आर्यमहानुभाव ' भूमिका प्रकाश ' का अवलोकन कर सत्यासत्यका निर्णय कर अनुगृहीत करेंगे ।

उक्त पुस्तकका उत्तर प्रधानतासे संस्कृतमें ही देकर भाषामें उसका भावार्थ मात्र दिखाया गया है । शताब्दीके उपलक्ष्यमें ही यह पुस्तक लिखे जानेके कारण कुछ शीघ्रता अवश्य करनी पड़ी है जिससे भाषानुवादमें न्यूनाधिकता होना सम्भव है । इसलिये जहां भाषा क्लिष्ट प्रतीतहो वहां मूल संस्कृतको देखकर पाठक ठीक समझलेनेकी कृपा करें जिस महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीका शतसंवत्सरीयजन्म महोत्सव मनाया जारहा उस उत्सवमें इस ऋषिकी निन्दामें लिखा हुआ ग्रन्थ विना उत्तर दिये रहने दिया जाय यह एक आर्यसमाजपर कलङ्कही था । इस लिये भी इसका शीघ्रही प्रकाशित होना आवश्यक था । अस्तु इसप्रकार उत्तर देनेपर भी यदि फिर कोई लिखनेका साहस करेगा तो उसके उत्तर देनेके लिये हमें भी कटिबद्धही समझिये ।

## धन्यवाद

सबसे प्रथम उस परमपिता परमात्माका हम हृदयसे धन्यवाद देते हैं कि जिसकी एकमात्र कृपासे ही हम इसग्रन्थको पूर्ण करनेमें समर्थ हुए। तदनन्तर वेदशास्त्रसम्पन्न श्रीपण्डितबालकृष्णजी शास्त्री प्रधान आर्यसमाज मुम्बईको हार्दिक धन्यवाद है कि जो समय २ पर अपनी बहुमूल्य सम्मतिद्वारा मार्ग प्रदर्शनकर अनुगृहीतकरते रहे हैं। तदनन्तर बम्बईके प्रसिद्ध आर्य श्रीमान् श्रेष्ठिप्रवर श्री शूरजी वल्लभदासजी के लिये भी हम विशेष धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते जिनकी एकमात्र उदारता के अवलम्बनसे ही यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। और भाई प्रो. धर्मेन्द्रनाथजी M. A. M. O. L. को भी हमारा अन्तःकरणसे धन्यवाद है कि उन्होंने ज्वरार्दित अवस्थामें भी ग्रन्थ परिचय लिखकर कष्ट उठाने की कृपाकी। और भाई पं. राजेन्द्रनाथ वैद्यभूषण दिल्लीके भी हम आभारी हैं कि उन्होंने भाषानुवादमें भाग ले ग्रन्थ प्रकाशनमें हमारा हाथ बटाया। बम्बईके प्रसिद्ध आर्य रसवैद्य पं. रामेश्वरानन्दजी के लिये भी उनके यथासमय प्रोत्साहन देते रहने के लिये भी हम अति कृतज्ञ हैं।

## क्षमा प्रार्थना।

मुद्रणालय के कर्मचारियोंकी असावधानता तथा शीघ्रताके कारण इस ग्रन्थके प्रकाशनमें कुछ भूल रह जाना स्वाभाविक है। उनके लिये हम क्षमाप्रार्थी है। आशा है पाठक स्वयं शुद्धकर पढेंगे और भाषामें भावानुवादके कारण यदि कहीं समझनेमें उलम्झन पड़े तो मूलसंस्कृतको देखकर सुलझालेने की कृपा करेंगे क्योंकि मौलिक ग्रन्थ संस्कृतमेंही लिखा गया है। अगले संस्करण में आशा है सब त्रुटियां निकालने का पूर्ण प्रयत्न किया जायगा।

मुम्बई.
माघ कृष्ण प्रतिपदा
१९८१ वै०

निवेदक,
द्विजेन्द्रनाथ.

ओ३म्

# परिचय.

## १
## ग्रन्थ-परिचय.

श्री पण्डित द्विजेन्द्रनाथ जी सिद्धान्तशिरोमणि ने "भूमिका प्रकाश" लिख कर आर्यसमाज के माथे से सचमुच बड़े कलङ्क का टीका दूर कर दिया है और हमें पूर्ण आशा है कि आर्यजनता उन की इस रचना का हृदय से स्वागत करेगी. यह ग्रन्थ अब से बहुत पहिले प्रकाशित हो जाना चाहिये था परन्तु 'बिलकुल न होनेसे देर में ही होना अच्छा' ऐसा समझपर इस के इस समय प्रकाशित होनेपर ही सन्तोष करना चाहिये. जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में ऋषि दयानन्द के चरणों में हमारे स्नातक भाई ने निस्सन्देह यह बहुमूल्य उपहार अर्पण किया है!

आर्यसमाज की गौरव रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रतिपक्षियों के विरोधी लेखों के उत्तर देने में सतर्क और सावधान रहें. इस विषय म उपेक्षा करना आर्यसमाज के लिये अत्यन्त घातक है. हम अपने लेखों और व्याख्यानों में इस बात को कई बार दुहराते हैं पर कार्य में इसे परिणत कर दिखाने वाले विरले ही होते हैं. प्रतिदिन अनेक ऐसी पुस्तकें सामने आती हैं जिन के उत्तर देने की आवश्यकता होती है परन्तु हमारी लेखनी अब तक सुस्त पड़ी हुइ है. इस दृष्टि से हम लेखक को हार्दिक बधाई दिये बिना नहीं रह सकते. उन्हों ने आर्य समाजके एक बड़े कर्त्तव्य को पूरा कर उस का बोझ हलका किया है.

आर्यसमाज के साहित्य में-ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में दो ही पुस्तकों का सर्वोपरि स्थान समझा जा सकता है—एक सत्यार्थ प्रकाश और द्वितीय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका. सत्यार्थप्रकाश के विरोध में मुरादाबाद के पण्डितज्वालाप्रसादने 'दयानन्दतिमिर भास्कर' नामक पुस्तक लिखी थी. उस का उत्तर यदि 'भास्कर प्रकाश'

नामक पुस्तक द्वारा स्वर्गीय श्री प० तुलसीरामजी न देते तो आर्यसमाज को जो हानि होती उसका अनुमान सहजहीमें किया जा सकता है. इस समय 'शङ्कासमाधान' के अवसर आर्यसमाजके सिद्धांतोंपर जो बहुत सी शङ्कायें होती हैं उनके समाधानके लिये आर्यसमाजके उपदेशकों को भास्कर प्रकाशसे कितनी सहायता मिलती है. इसके बाद आर्यसमाजके विरुद्ध दूसरी उल्लेखनीय पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके खण्डनमें आगरानिवासी प० घनश्यामशर्मा ने 'भूमिका भास' नामक 'पुस्तक प्रकाशित की जब पुस्तक पहिली बार जनताके आगे आयी तो बहुत हलचल मची इस पुस्तकमें अनेक ऐसी बातथी जिन से अशिक्षित जनतामें बहुत भ्रांति फैल सकतीथी आर्यसमाजने अनेक लेखों और व्याख्यानों द्वारा इस पुस्तक का प्रत्युत्तर दिया परन्तु आवश्यकता यह थी कि उस पुस्तककी प्रत्येक बातका मुँह तोड जवाब देते हुये एक दूसरा ग्रन्थ लिखा जावे. इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह पुस्तक आर्यसमाजके मूलको चोट पहुँचानेवाली थी हमारा मूल—आधार 'वेद' अथवा वेद के वैदिक अर्थोंपर ही है और उसी वेदार्थ—प्रक्रियाको ऋषि दयानन्दने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में बतलाया है. प० घनश्यामने अपनी पुस्तक में ऋषि दयानंदके वेदार्थ को उपहासास्पद बनाने की चेष्टा की और आर्य समाज के सब विद्वानों को चैलेञ्ज दिया कि यदि उन के अंदर शक्ति हो तो इस पुस्तक का उत्तर देवें. आश्चर्य है कि समाज के विद्वानोंने फिर भी इधर ध्यान नहीं दिया. इस बड़े कार्य को 'भूमिका प्रकाश' को लिखकर पण्डित द्विजेन्द्रनाथजीने पूरा किया है. भास्कर प्रकाश के समान ही भूमिका प्रकाशका भी आर्यसमाज के साहित्य में एक विशेष स्थान होगा इसमें तनिकभी सन्देह नहीं.

यह अनावश्यक न होगा कि हम कुछ पंक्तियों में भूमिका प्रकाश के पाठकों को ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय दें. सहाध्यायी होने की हैसियतसे हमें इन पंक्तियोंके लिखने में रुचि भी है और एक सहाध्यायी से बढ़ कर कोई उचित परिचय भी नहीं दे सकता.

## २
## ग्रन्थकारपरिचय.

श्री प० द्विजेन्द्रनाथजीका जन्म मेरठ जिलाके अन्तर्गत परासोली ग्राम में हुआ आप के पूज्य पिताजी श्री प० जानकीप्रसादजी हैं जो कि एक उच्च कोटि के हकीम हैं आर्य समाज और धर्म से गाढ प्रेम होने के कारण आपके पिताजीने उस समयभी जबकि गुरुकुल नयेनये खुले थे. और लोग 'गुरुकुलों' के नामसे ही घबड़ा ते थे अपने पुत्र को गुरुकुल में शिक्षा के लिये भेजा आप की शिक्षा गुरुकुल बृन्दावन में हुई जो पहिले सिकन्दरावाद् और फर्रुखाबाद रहा. गुरुकुल के जीवन में आप में वह सब चिन्ह विद्यमान थे जो एक होनहार विद्यार्थी में होते हैं वे अपने साथियों में गौरव की दृष्टि से देखे जाते थे और उनके नेतृत्व का पद आपको प्राप्त था ब्रह्मचारियोंकी विद्यापरिषद् नाम्नी सभाके भी आप बहुत दिन तक मन्त्री रहे. आपकी संस्कृत साहित्यमें विशेष योग्यता और रुचि थी. आप बहुत छोटी आयु में संस्कृत-कविता करने लगे थे. उस छोटी आयुमें की हुई कविता से भी आप की कवित्वशक्ति और पाण्डित्य का पता चल जाता है. गुरुकुल के महा-विद्यालय में आकर जहाँ आपने वेद षड्दर्शन आदिका अध्ययन किया वहाँ नवीनदर्शन नव्यन्याय को विशेष विषय करके पढ़ा आप का दूसरा विशेष विषय आर्यसिद्धान्त अन्य मतों के तुलनात्मक सिद्धान्तों (crmparative theology) के साथ था. वे गुरुकुल में रहते हुये निजी तौर पर वैद्यक का भी अध्ययन करते थे. सन १९१८ में, वर्तमान लेखक के साथ २ वे गुरुकुल से पहिले पहल स्नातक हुये. गुरुकुल से आपको आर्यसिद्धांत सम्बन्धी सुवर्णपदक भी प्राप्त हुआ.

स्नातक होने के उपरान्त आप युक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के लग भग दो वर्ष तक मुख्योपदेशक रहे. कहने की आवश्यकता

नहीं कि आप प्रगल्भ वक्ता हैं. अपने व्याख्यानों और उपदेशों द्वारा आपने आर्यसमाज की बहुत सेवा की.

१९२१ में आप का बम्बई निवासी श्री प० बालकृष्णजी शास्त्री ( जो दयानन्द शताब्दी के अवसरपर होने वाली आर्यपरिषद के प्रधान हैं ) की सुयोग्य विदुषी पुत्री श्रीमती इन्दिरा देवी से विवाह हुआ आपकी धर्मपत्नी आपके समान ही बड़े सरल और कोमल स्वभाव की हैं एक आर्य देवी में जो गुण होने चाहियें वे उनमें विद्यमान हैं इस लिये आपके घरमें आर्यजीवन की झलक पायी जाती है. यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि आप के विवाह में 'उपजाति' की मर्यादा को जो कि प्रचलित परिपाटी के अनुसार सब जगह मानी जाती है तोड़ दिया गया था. आरम्भिक दशा में उपजाति को तोड़ना भी बहुत प्रशंसनीय कहा जा सकता है.

इस समय आप का कार्य क्षेत्र बम्बई में हैं आप बम्बई समाजके महोपदेशक है. वहाँ पर आयुर्वेदिक चिकित्सा भी करते हैं आपकी चिकित्सा को बम्बई जैसी बडी नगरी में बहुत सफलता प्राप्त हुई है आप बम्बई के नेशनल मेडिकल कालेज में आयुर्वेद के प्रोफेसर भी है.

आप गुरुकुल के उन स्नातकों में हैं जिन पर एक संस्था को पूर्ण गौरव हो सकता है. अभी तक लोग गुरुकुल के स्नातकों पर यह भी आक्षेप करते रहे हैं कि वे लोग आर्यसमाज के विरोधियों का मुकाबला नहीं करते परन्तु हमारे स्नातक भाई ने इस आक्षेप का क्रियात्मक उत्तर देकर गुरुकुल के गौरव को बढाया है.

अन्त में हम आशा करते हैं कि आर्यभाई तथा दूसरे विद्वान् इस पुस्तक को पढ़कर उससे पूरा लाभ उठायेंगे—तथास्तु !

मेरठ कालेज
माघ कृ. द्वितीया
१९२५

धर्मेन्द्रनाथ.

# समर्पणम्

ब्रह्मानन्दयुतोऽपि यस्तु दयया लोकोपकारे रतः ।
सर्वैर्देशविदेशजैरपि बुधै र्जेगीयते यद्यशः ॥
वेदाचार्यवरस्य तस्य हि दयानन्दस्य कीर्तिस्मृतौ ।
भावैर्भक्तिपरैः समर्पणमिदं ग्रन्थस्य मे जायताम् ॥

## भावार्थ

परमब्रह्मानन्दमें निमग्न हुए भी जो महर्षि दयावश लोकोपकारके कार्यमें रात्रिं दिवा निरत रहते थे और जिनके यशका सभी देशी तथा विदेशी विद्वान् मुक्तकण्ठसे गान करते हैं। उन्हीं वेदाचार्य महर्षि दयानन्दजी महाराजकी पुण्य कीर्त्तिकी स्मृतिमें अत्यन्त भक्तिभावोंके साथ हम इस ग्रन्थको समर्पण करते हैं।

# ओ३म्

# अथ भूमिकाप्रकाशस्य पूर्वभागः

## मङ्गलाचरणम्

यस्मादुदेति नितरां रमतेऽपि यत्र ।
यस्मिन् पुनर्जगदिदं प्रलयं प्रयाति ॥
आनन्दकन्दजगदीश्वरविश्ववन्धुं
कारुण्यसिन्धुमतिवन्धुरमाश्रयामः ॥ १ ॥
यस्य प्रसादत इयं भुवि वेदवाणी-
वीणा सुधामधुरझङ्कृतिमातनोति ।
तं देववृन्दपरिवन्दितवन्दनीयं
वन्दामहे निगमकाव्यमहाकवीन्द्रम् ॥ २ ॥
याऽन्तः प्रविश्य सदयं हृदयं कवीना-
मादित्यवायुदहनाङ्गिरसामृषीणाम् ।
उद्योतयन्त्यतितरां द्युतिमाततान ।
हृद्यां भजामि हृदि तामपि वेदविद्याम् ॥ ३ ॥

---

आनन्द कन्द जगदीश्वर, सकल जगत्के बन्धु, तथा करुणाके सिन्धु उस परब्रह्मका हम आश्रयण करते हैं । कि जिसने इस जगत् को उत्पन्न किया जिसमें यह स्थित है और अन्तमें जिसमें ही यह जगत् विलीन हो जाता है ॥ १ ॥

जिसकी कृपासे संसारमें वेदवाणी रूपी वीणा का सुधा के समान मधुर झङ्कार का प्रसार हो रहा है । उस देवगणों से भी वन्दनीय वेदरूपी काव्य के महाकवींद्र परमपिता की हम वन्दना करते हैं ॥ २ ॥

अग्नि आदित्य वायु एवं अङ्गिरा ऋषिके सदय हृदयमें प्रविष्ट होकर प्रकाशित होती हुई जिस वेदविद्याने संसारमें ज्ञानप्रकाश फैलाया है । उस हृद्या वेदविद्या को हम हृदयसे भजन करते हैं । ३ ।

या राजते कविवराननकञ्ज-
गुञ्जन्ति यत्र बहुमञ्जुरसा मिलिन्दाः ।
सामेऽपि रम्यकवने वितनोतु लास्य-
मास्यञ्च पद्मनिलया निलयीकरोतु ।।४ ।।

विद्योद्यानविहारशीलनपरानुद्दामवाचो गुरून् ।
वन्दे तानपि वेदशास्त्रनिपुणानानन्दसन्दोहिनः
येषामद्भुत कान्तशान्तमनसां कारुण्यतो मादृशा
लब्धेयंतु सुधेव सागरवरात्स्वच्छन्दता छन्दसि ।। ५ ।

सत्यासत्यविवेकतो नहि पुनः पक्षग्रहेणाऽमुना ।
नापिद्वेषधियाथवा नच मया वैदुष्यगर्वेण वा ।
किंसत्यं किमसत्यमित्यविकलंबोधायवै केवलम् ।
ग्रन्थोऽसत्परिपन्थ्यभिज्ञविदुषांतुष्ट्यै ह्ययं रच्यते ।। ६ ।।

---

जो कवियोंके मुखारविन्दमें, जहां कि अनेक मञ्जुरस रूपी भ्रमर गूंजते हैं, विराजती है । वह पद्मनिलया सरस्वती मेरे भी कवन ( कवित्वकला ) में नृत्यकरे और मुख को अपना निलय ( वासस्थान ) बनावे । ४ ।

विद्यारूपी उद्यान में विहरणशील, प्रगल्भवाणीवाले वेदशास्त्रमें निष्णात एवं सदा आनन्दमें रहनेवाले गुरुजनों की भी; जिनकी एकमात्र कृपासे ही हमने छान्दस कलामें स्वच्छन्दता प्राप्त की है, हम वन्दना करते है । ५ ।

हम इस ग्रन्थको, सत्यासत्य विवेकसे ही, किसी प्रकार के पक्ष के आग्रह से नहीं, या किसी द्वेषबुद्धि से नहीं, अथवा, अपने पाण्डित्य के गर्व से भी नहीं लिखते हैं किन्तु केवल इसी दृष्टिसे लिखते हैं कि सत्यासत्य का बोधहो, असत्य का नाश हो तथा सत्य, विचारशील विद्वानों के सन्तोषका हेतु हो । केवल इसी विचार से इस प्रबन्धको रचा है । ६ ।

श्रीमद्दयानन्दमहर्षिप्रणीतां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकां समालोचयितुकामः श्रीमद्घनश्यामस्तावद् 'ब्रह्मानन्तमित्यादिमङ्गलाचरणात्मकमादिममेवश्लोकं पुरस्कृत्य श्रीमत्स्वामिनां 'सहृदयहृदयतां' 'साहित्यशास्त्रविज्ञानं' वेदभाष्यसम्पादनयोग्यताञ्च व्यङ्गभावेनापादयन् कियद्यावच्चिन्त्यतामनैषीदिति निष्पक्षहृदयैः सदयैः सहृयमहोदयैः क्षणं स्वयमेव विभाव्यताम् ।

निवेदनीयञ्चात्र केवलमिदमेव समालोचकमहोदयेन यदसभ्यजनोचितपदावलिः प्रयुक्ता निरतिशयावेशवशाच्चयद्भूयःसु स्थलेषु शिष्टार्य्यमर्य्यादामुल्लङ्घ्यप्रायशो गालिप्रदानमपि कृतं तदर्थं वयं क्षन्तव्याः । यतो हि न वयं तादृशपदावलिपांसुलपादहालिकस्यापि कृते प्रयोक्तुंसमुत्सहामहे कस्यचित्पण्डितनामधेयस्य विषये तु पुनः किमुवक्तव्यम् । किञ्च यत्तेनस्वबुद्धिवलोदयमवलम्ब्य महर्षेर्विमलरचनायां दोषाः प्रदर्शितास्तेषां समासतः समाधानन्त्ववश्यमेव

---

श्रीमन्महर्षिदयानन्दप्रणीत 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका की समालोचना करनेकी इच्छासे पण्डित घनश्याम शर्म्मा प्रथम, आदिके श्लोकको ही लक्ष्यमें रखकर श्री स्वामीजी महाराजकी 'सहृदयहृदयता' उनके 'साहित्यपरिज्ञान' और 'वेदभाष्य सम्पादनयोग्यता' पर व्यङ्गभावसे आक्षेप करते हुए कहाँतक उसको दूषित ठहराने में सफल हुए हैं यह किञ्चत् सहृदय विद्वान्लोग स्वयं ही निष्पक्ष हो कर बिचारें ! "ऋग्वेदादि" की समालोचना करते हुए पं० घनश्यामजीने जिन असभ्यजनोचित एवं अविनीत पदोंका प्रयोग किया है और कहीं २ जो बिल्कुल जामेसे बाहर होकर गालीप्रदान तक कर डाला है । उसके बदलेमें न हमारे पास वैसे शब्दही हैं और न वैसा करना हम विद्वज्जनोचित ही समझते हैं । आशा है इसकमी के लिये तो पण्डित घनश्यामजी हमें क्षमा करेंगे । हां जो अन्य आक्षेप, उन्होंने अपनी योग्यतानुसार किये हैं उनका हम स्थालीपुलाकन्यायसे अवश्य समाधान करेंगे ।

विधास्यामः । वाललीलोपमेयांश्च दोषान् त्यक्ष्यामः यतस्तेषां समाधानमपि वाललीलामात्रमेव । न च वयं कर्हिचित् विज्ञविदुषां वाचकानां रसमयं समयं वाललीलया यापयितुमभिलषामः । केवलं समाधेयवस्तुतत्वं समाधास्यामः । मुख्यांश्च तर्कान्निराकरिष्यामः । तावतैवान्येऽपि कुतर्काः सुतरां स्वयमेवाभासीभविष्यन्तीति । तदत्र यदि विमत्सराः सन्तः प्रेक्षावन्तः तात्त्विकदृशा विविच्य गुञ्जामौक्तिकभेदं, मौक्तिकादित्सया गुञ्जाजिहासयाच प्रवर्त्तिष्यन्ते तर्हि भविष्यामोवयमपि नितरां फलेग्रहिप्रयत्ना इति ।

(१) 'ब्रह्मणोऽनादि विशेषणं कृत्वापि किं फलकं तावदज विशेषणमिति यदाह तन्न चारु । विशेषणानां किञ्चिदुत्कृष्टत्वप्रतिपादकत्वस्यैव सर्वानुभविकत्वात् । सत्यपि 'अनादि' विशेषणे नहि 'अज' विशेषणं कथञ्चिदपुष्टार्थम् । कुतः ? उच्यते । यतोऽनादि-

---

क्योंकि उनके बहुतसे आक्षेप तो बिल्कुल बालकोंवाले हैं जिनका उत्तर देना भी केवल बालक्रीला मात्र ही होगा । चूंकि बालक्रीडा में हम कभी भी अपने विज्ञपाठकोंका समय व्यर्थ नष्ट कराना नहीं चाहते । केवल समाधेय वस्तुके समाधानको ही उनके सम्मुख उपस्थित करते हैं । आशा है विज्ञ पाठक अवश्य ही सत्यासत्यका विवेक कर मुक्ता तथा गुञ्जा के भेदको परख कर मुक्ताग्रहण तथा गुञ्जापरित्याग में प्रवृत्त होकर लेखक को अनुगृहीत करेंगे ।

( १ ) प्रथम ही श्लोकमें पण्डित घनश्यामजी का कहना है। कि 'जब ब्रह्मका अनादि विशेषण दिया ही है तो फिर अज विशेषण क्यों दिया उसका कुछ फल नहीं वह व्यर्थ ही है ? ( उत्तर ) यदि पण्डितजी विशेषण विशेष्य भावकी उपयोगिता को जानते तो कभीभी ऐसा प्रश्न न करते । क्यों कि विशेषण कुछ न कुछ अवश्य ही उत्कृष्टताके प्रतिपादक हुआ करते हैं । उसी विशिष्टार्थके बतलानेके लिये ही यहांपर 'अज' यह विशेषण दिया गया है । 'अनादि' यह केवल आदि-

शब्देनादिराहित्यमुच्यते न जात्वजपदप्रतिपाद्यं प्रादुर्भावराहित्यम् । एवञ्च पुनरुक्त्यभावे किं फलकमजविशेषणमिति प्रश्नः कियद्यावत्संश्लिष्ट इति शिष्टैः स्वयमेव प्रणिभाल्यताम् । एतेनैवान्येऽपि 'शाश्वतमित्यादि सहोदरा आक्षेपा भिन्नार्थकत्वान्निराहता वेदितव्याः ।

(२) यच्च 'वेदाख्या विद्यास्वतो भिन्नान् कांस्कान्निगमान् बिभर्त्ति' इति यत्पृष्टं तदपि सर्वथा निरवकाशम् । निगमभृत्पदस्य वेदविद्याया विशेषणत्वेनोपन्यस्तत्वात् । तत्कुतोऽत्रभवताऽत्रभवताभेदविचारणाया अवकाशः समुपलब्धः । अवयवायविनोरभेदस्यसर्वशिष्टाभिमतत्वेन निगमानामपि वेदविद्याया अवयवभूततया तदभिन्नत्वस्य सुतरां सिद्धत्वात् । नास्त्यत्र लवतोऽपि तादृशशङ्कावकाशः ।

---

राहित्य का द्योतक है और 'अज' पद ब्रह्मके अनुत्पत्तिमत्त्व का बोध कराता है । इसलिये अज पदमें हेतुगर्भता है । और उत्कृष्टार्थ प्रतिपादकता है । फिर घनश्यामजीका प्रश्न कहांतक उपयुक्त है यह स्वयं शिष्ट विद्वान् ही देखें । ब्रह्म अनादि क्यों हैं चूंकि वह अज है अर्थात् अजन्मा है । आगे चलकर इसीकी पुष्टिके लिये एक ओर विशेषण 'शाश्वत' देते हैं । क्या उसका कभी जन्मही नहीं होता ? नहीं कभी नहीं क्योंकि वह शाश्वत है अर्थात् सदातन है । इसलिये महाशय ! अनादि पदके होते हुए भी अज विशेषण सार्थकही है निरर्थक नहीं । इसी रीतिसे अन्य भी इसी प्रकारके विशेषणविषयक 'शाश्वतमित्यादि पदोंके लिये किये गये हुए आक्षेपों का समाधान समझ लेना चाहिये ।

( २ ) ( प्रश्न ) वेदाख्या विद्या अपने से भिन्न किन २ निगमों को धारती है ? ( उत्तर ) यह प्रश्न भी विचित्र ही है । महाशय ! यहां निगमभृत्' यह पद वेदविद्याका विशेषण है । आपने शायद निगम शब्दका 'वेद' अर्थ लगाकर 'वेदविद्या अपने से भिन्न किन २ निगमों को ( वेदोंको ) धारण करती है" यह शङ्का की है ? परन्तु आप

( ३ ) ननु 'हि' 'तु' शब्दौ किमर्थ मुपन्यस्तौ" इति प्रश्नोऽपि नितरां निरर्थकस्तयोरवधारणपरत्वस्य क्वचित्पादपूर्णार्थकत्वस्यच सकलाभिधानिकानुभवगोचरत्वात्। एवं सार्थककत्वाच्च।

( ४ ) किञ्च 'निगमार्थभाष्ये कामना उत निगमभाष्ये ? इतिय-ज्जिज्ञासितं तदप्यपेशलम्। निरुक्तकामनाया एव साफल्येन फलितार्थत्वात्। तथा हि। निगमानामर्थाः पदार्था वृत्तिरूपास्तेषामाक्षेपसमाधानपुरस्सरं योजनन्तस्मिन् मतिर्यस्येति निगमार्थ-

को यह याद रखना चाहिये कि निगम के अर्थ मन्त्र, तथा ऋचा कभी होते हैं और खासकर ऐसी अवस्थामें जब कि वह वेदविद्या का विशेषण है। और फिर अवयवावयवी की अभिन्नता सर्व शिष्टसम्मत है मन्त्रों अथवा ऋचाओंसे मिलकरही वेद बना है फिर वह वेद अपनेसे भिन्न किन २ निगमों को धारण करता है यह प्रश्न न ही बनता। और आपका यह प्रश्न कि श्लोकमें "हि" "तु" शब्द क्यों रक्खे ? बिल्कुल निरर्थक है। क्यों कि प्रथम तो ये दोनो अव्यय निश्चयार्थक हैं यह बात प्रसिद्ध है। दूसरे इनका प्रयोग क्वचित् क्वचित् पादपूर्णार्थ भी कवि समाज हमेशासे करता चला आया है। यदि स्वामीजी महाराजने भी इनका प्रयोग किया तो क्या अनर्थ हुआ ?

(२) 'निगमार्थ भाष्य में कामना है या निगमभाष्य में ?' यह आशङ्का भी आपकी ठीक नहीं। क्यों कि स्वामीजी की निगमार्थ भाष्य में ही कामना है। इसी लिये उन्होंने इस पद का प्रयोग किया। आपका यह खयाल कि अर्थ तथा भाष्य तो एक ही बात है फिर 'अर्थ भाष्य' ये दोनोंपद क्यों रक्खे ? ठीक नहीं। क्योंकि अर्थ तथा भाष्यमें जमीन आसमानका भेद है। अर्थ कहते हैं पदार्थ को (जो वृत्तिरूप अर्थात् संक्षिप्त होता है। और भाष्य कहते हैं आक्षेप समाधान पूर्वक ग्रंथ योजना को। श्री स्वामीजी महाराज की वृत्तिरूप अर्थ करके आक्षेप समाधान पूर्वक सविस्तर भाष्य करने की कामना थी इसलिये ही

भाष्यमतिस्तेनेति सर्वं मुपपद्यते । नास्त्यत्र लवतोऽपि काचिद् विप्रतिपत्तिः । तदित्थमाद्यंहृद्यमनवद्यं पद्यमिदं न कस्य हृदयवतो हृदयङ्गमं भविष्यति विलक्षणलक्षणाभिरामं श्रीमद्धनश्यामं विहाय । अयन्त्वत्र प्रथमग्रासे माक्षिकापातमेव विभावयति । महाशयाः । चेद्-त्रानेन महानुभावेन प्रथमग्रासे सक्षणमनवलोकमानेनैलाकणं क्षणं प्रेक्षाक्षि रुग्वशान्माक्षिकेतिकृत्वा समक्षीकृता तर्हि कस्यायमपराध इति समीक्षणचणै र्विचक्षणैरेवकिञ्चिन्निर्णीयताम् । हन्त ! श्रीमन् घनश्याम ! अनधिकृतचेष्टाजुषां भवादृशामेव दशामवलोक्य नूनं स्थान एव समुपश्लोकितं केनापि कवीश्वरेणेति—

' क्रूराः कृताञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः ।
काये मया प्रहरताऽत्र यथाभिलाषम् ॥
अभ्यर्थये वितथवाङ्मय पांसुवर्षै-
र्मामाविलीकुरुत कीर्त्तिनदीः परेषाम् ॥

५ किञ्च ' कविताकामनीत्यादि काव्येन कविम्मन्येनानेन यत्स्वीयकवित्वकला विस्फोरिता । तदपि हृदयवतां कुतूहलाय समुद्भ्रियते । तथा चेत्थं समुद्धुक्तेऽयं महामनाः ।

---

उन्हों ने उक्त पदका प्रयोग किया जो सर्वथा ठीक है तो ऐसा हृद्य अनवद्य पद्य किस सहृदय पुरुषको हृदयङ्गम न होगा । परन्तु घनश्यामजी कहते हैं कि यह प्रथमही ग्रासमें माक्षिकापात हुआ ! महानुभावो ! यदि घनश्यामजीने दृष्टि दोषसे प्रथम ग्रासमें इलायची के दाने को ही ध्यान पूर्वक न देखकर माक्षिका ( मक्खी ) समझ लिया तो यह किस का दोष है जरा विचक्षण लोग स्वयं ही विचारें । हन्त ! घनश्यामजी आप जैसों की इस अनधिकार चेष्टा को देखकर ही किसी कवीश्वरने " क्रूराः कृताञ्जलिरयं " यह पद्य ठीकही कहा है । कि हे क्रूर लोगों तुम्हारे लिये हम अञ्जलि देते हैं । और यह बलि भी समर्पित है तथा प्रार्थना करते हैं किसी सज्जन की कीर्तिनदीको अपने मिथ्या अपवादरूपी धूलि से मलिन ( गदली ) न करो ।

५ आगे चलकर इन्होंने स्वामीजी की कविता का मज़ाक करते हुए " कविता कामिनी " इत्यादि श्लोक द्वारा जो अपनी कवित्वकला जताथी

'कविताकामिनीं' विरक्तः प्रेमरसशून्यः "कामसम्मुग्धः भोग-विलासानभिज्ञः" (षण्ढ इत्यर्थः) दुनोति। इति पश्यत रे क्षणमस्य कविमण्डलाखण्डलस्य कवित्वताण्डवविडम्बनाम्। क्वखलु कामसम्मुग्धो भोगविलासानभिज्ञो विरक्तः? क्वनु कविताकामिनी? क्व च पुनर्दुनोतेः समन्वयः? इति। कथमिवायं व्यर्थवागाडम्बरः संश्लिष्येत। कथङ्कारमिवैष मत्तप्रलापोऽस्य सामञ्जस्यमश्नुयादिति तु बहुशो विचारितोऽपि न प्रज्ञापथमारोहति।

६ नच 'काल रामाङ्क चन्द्रमितेऽब्दे' इति वक्तव्ये कालादिभिरेव केवलैः समुद्युङ्क्ते विबोधयितुं वत्सरनामेति" यदुक्तं तदपि यौक्तिकम्। प्रयोगप्रकाराणां तत्तद्भूरिभेदभिन्नत्वात्। व्याकृतिदोषविरहात्,

---

है उसे भी सहृदय पुरुषोंके कुतूहलके लिये यहां दिखाते हैं। ताकि वाचक कविराज घनश्यामजी की कवित्व प्रतिभाको तो देखें। आप लिखते हैं कि—"विरक्त अर्थात् प्रेम रसशून्य काम सम्मुग्ध अर्थात् भोगविलाससे अनभिज्ञ (षण्ढ) कवितारूपी कामिनी को सतारहा है"। वाह वाह क्या ही अच्छी कवित्व चमत्कृति है। कहां भोगविलासानभिज्ञता,? प्रेमरसशून्यता कहां? और कहां कविता कामिनी? न जाने इसके साथ दुनोति (सताने) का समन्वय आपने कैसे जोड़ा। बहुत कुछ विचारकरने परभी इस उन्मत्तप्रलापका सम्बन्ध समझमें नहीं आता (जनाब! यदि वृथावागाडम्बर (तुकबन्दी) ही कविता हो जाती तो आज सभी हास व कालिदास बनजाते?)

६ और आपका यह आक्षेप भी '"कालरामाङ्कचन्द्रमितेऽब्दे" ऐसा कहना चाहिये था, किन्तु ऐसा न कह कर ऋषिने केवल 'काल रामाङ्क चन्द्रे' ऐसाही लिख दिया सोठीक नहीं किया"। विद्वानों की दृष्टिमें निरर्थक ही है क्यों कि यह तो अपनी २ प्रयोगशैली है। और इसमें व्याकरण की दृष्टिसे कुछ दोषभी नहीं है। इसका भी अर्थ यही होत

कालरामाङ्कचन्द्रैस्सम्मितेऽब्द इति कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे' इत्येतत्तात्पर्य्येणैवात्रप्रयुक्तत्वाच्च । तद्वेवं कोऽत्रभवतां मत्सरः ?

७ किञ्च 'प्रतिपद्यादित्यवारे' चरणेऽत्र पञ्चमाक्षरं गुरुतां-प्रापयन्नवहेलितो भगवान् पिङ्गलाचार्य इति यदुक्तं तदपि छान्दसकलाऽनभिज्ञत्वमेव भवतां प्रकटयति । यतोऽपरिशीलितपिङ्गलशास्त्रः श्रुतश्रुतबोधमात्रः कश्चिद्भवादृशएवेमां त्रुटिं वक्तुंशक्नुयात् । न पुनः कवित्वकलाकलनप्रवीणः कोऽपिकविधुरीणः । कुतः ? । अनुष्टुप् छन्दसामनेकावान्तर भेदभिन्नत्वात् ।

हन्त ! अधन्य ! कविम्मन्य ! नूनं न्यधायि भवताऽपदास्पदेपदम् । साहित्यशास्त्रानभिज्ञस्य ते तथाचेष्टितं ध्रुवमाश्चर्यगोचरम् । अयिकविचक्रवर्त्तिन् ? "सर्वत्रलघुपञ्चम" मेषनियमस्तु केवलं सुकुमार-

---

है 'कालरामाङ्क चन्द्र सम्मित जो अब्द, वही कालरामाङ्कचन्द्राब्द । इसमें भेद क्या हुआ, श्रीमन् इसी तात्पर्यसे यह प्रयोग किया गया है । और इससे बोधभी उक्तार्थ काही होता है । फिर इसमें आपका क्या मत्सर है ?

७ 'प्रतिधादित्यवारे' इस चरणको लेकर जो आपने लिख मारा है कि ऋषि दयानन्दजी महाराजने पिङ्गलाचार्यकी अवहेलना करडाली इत्यादि । यह भी आपकी छान्दस ( कवित्व ) कलासे अनभिज्ञ होने काही द्योतक है । क्यों कि, इसको तो कोई आप जैसा ही त्रुटि कह सकता है कि जिसने केवल श्रुतबोधमात्र सुन लिया है और पिङ्गल शास्त्र का परिशीलन नहीं किया । कोई कवित्वकला प्रवीण कवि धुरणी ऐसा कभी नहीं कह सकता । क्योंकि अनुष्टुप् छन्दके तो अनेक अवान्तर भेद होते हैं । हन्त ! कविम्मन्य घनश्यामजी आपने वृथा ही यह अनधिकार चेष्टाकी जब आपको छन्दः शास्त्रका ज्ञान नहीं था तो क्यों इस प्रकारकी चेष्टा की ? हे कवित्व की डींग मारने मारनेवाले कवि चक्रवर्त्ती ! सुनिये । "सर्वत्रलघु पञ्चमम्" ( अर्थात् अनुष्टुप् छन्द

धियां बालानां कृतेऽल्पप्रयासेनैव छान्दसज्ञानं प्रदित्सुना कविकुल-शिरोमणिना कालिदासेन व्यधायि नपुनः साहित्यशास्त्राम्भोधिपार-गाणाम् । अन्यथा कथमेवं स्वीयं नियमसुन्मन्थयन्नुल्लङ्घयंश्चासौ कविकुलचक्रवर्त्ती वदतोव्याघातदोषं प्रसञ्जयेव समुल्लङ्घितश्चयथा वहुत्र निरुक्तनियमोऽनेन तथा निम्नस्थैः पद्यैः स्फुटं विज्ञायते। तथाहि

" यथाप्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजाप्रकृतिरञ्जनात् " ( रघुवंशे )

अत्रहि तृतीय चरणे पञ्चमाक्षरस्य गुरुत्वं कोनामापवदितुं पारयेत् ?
कुमार सम्भवेऽपिचः—

" स्थानं त्वां स्थावरात्मानं, विष्णुमाहुस्तथाहिते ।
चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः ।

म सर्वत्र ही पांचवां अक्षर लघु होता है ) यह नियम कालिदासने केवल सुकुमार बुद्धि वाले बालकों के लिये ही अल्प प्रयत्नसे छन्दोंका ज्ञान करने के लिये लिख दिया है । साहित्यशास्त्र रूपीसमुद्र के पारंगत विद्वानों के लिये नहीं । अन्यथा यदि यही सार्वदेशिक नियम होता कि अनुष्टुप् छन्दमें सर्वत्रही पञ्चमाक्षर लघु होता है तो स्वयं कालिदास ही अपने बनाये नियम का उल्लंघन कदापि न करते । दूसरोंकी तो बात ही क्या स्वयं कालिदासने रघुवंश तथा कुमार सम्भव में ही अनेक स्थलोंपर इस नियम को तोड़ा है । जिनमेंसे विज्ञपाठकों के सन्तोष के लिये हम दो एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । कुमारसम्भवमें:—

" स्थानं त्वां स्थावरात्मानम् " इस श्लोकके तृतीयचरण में पञ्चमाक्षर ( णां ) को कविकुल शिरोमणि कालिदासनेभी गुरुही रक्खा है । तथा रघुवंशमें भी

' यथाप्रह्लादनाच्चन्द्रः ' इस श्लोक के तृतीयचरण में भी पञ्चमाक्षर ( भू ) गुरु ही है । यदि उक्त नियम सार्वदेशिक होता तो कविसम्राट्

अत्रापि तृतीयचरणे पञ्चमाक्षरस्य गुरुत्वं सुस्पष्टमेव । महानुभावाः ! किमतोऽधिकं साधकं भविष्यति महर्षेः कलाकलानिधित्वस्य । हन्त ! श्याम निकामं कवित्वखण्डनविडम्बनया कृतं तव प्रयासजातं जातमरण्यरुदितमेव नूनम् । किमद्यापि न लज्जसे । तदेवं, श्रीमद्दयानन्दाचार्येण भगवान् पिङ्गलाचार्यो निराहृतः समाहृतो वेति हृदयालयो दयालवो विद्वांस एव प्रणिभालयन्तुतराम् ।

८ किञ्च "भाष्यारम्भः कृतो मया" इत्यत्र किमारम्भशब्द आद्यकृतिं नावबोधयति यत्तत्र कृत इत्युक्तमिति यद्वलिगतं तदपि नितरां फल्गु । कुतः ? शृणु । विहितारम्भस्यैव भाष्यस्य नतुसमारभ्यमाणस्य तादृशप्रयोगेणाभिप्रेतत्वात् । अन्यथा भाष्यारम्भः क्रियते करिष्यते वेत्युभयविधबोधस्य ततोभानात्सन्देह पिशाचः समुज्जृम्भेत । इति ।

---

कालिदास इतनी बड़ी भूल कभी न करते ? विज्ञ वाचकवृन्द महर्षिके काव्यकलाकलाधरत्वका इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है । इसलिये कवित्व विडम्बना से किया हुआ प० घनश्यामजीका प्रयत्न बिल्कुल अरण्यरोदन के समान ही हुआ । और इनको यह लिखते हुए भी लज्जा न आई कि स्वामीजीने पिङ्गलाचार्य की अवहेलना की है । अरे भाई पिङ्गलाचार्य की अवहेलना स्वामीजीने की याँ स्वयं प० घनश्यामजीने ? यह सहृदय पाठक ही स्वयं विचारें ?

७—"भाष्यारम्भः कृतो मया" इस चरण में भी आपने क्या खूब बारीकी निकाली ? आप कहते हैं क्या आरम्भ शब्द से आद्यकृति (प्रारम्भ करनेका) बोध नहीं होता जो "कृतः" (किया) इस शब्द काभी प्रयोग किया ? यह कथन भी इनका नितान्त व्यर्थ है । क्योंकि केवल आरम्भ शब्दसे यह बोध कैसे होता कि भाष्यका आरम्भ करते हैं या कर चुके हैं अथवा करेंगे । केवल आरम्भ के प्रयोगसे तो उक्त शङ्का बनी ही रहती इस को दूर करने के लियेही केवल आरम्भ शब्द का प्रयोग न करके "आरम्भः कृतः" इसका ही प्रयोग किया गया जो सर्वथा युक्तियुक्त है ।

९ अथ तृतीयं श्लोकं समालम्ब्य यज्जगर्ज 'किमानन्द-शब्दः स्वात्मविदितस्तदर्थो वा ?" इति तदपि तस्याप्रेक्षा-वच्चेष्टितम्। तस्य विस्पष्टार्थत्वात्। कोमलधियामपि सौकर्य्येणा-वगन्तुंशक्यत्वात्। शब्दे शब्दधियाऽर्थेच पुनरर्थधियैव तथोपन्या-साच्च। इदमत्रबोध्यम्। स्वात्मविदित इतिपदमानन्दपदस्य विशेषणं। दयायाः परः कीदृश आनन्दो विलसति, इत्याकाङ्क्षायामाह स्वात्म-विदितः, स्वानुभूतः स्वात्मलब्धो वेति यावत्। सच आनन्दः 'दया-नन्दसरस्वतीति नाम्नि शब्देवा शब्दस्वरूपोऽर्थे च पुनरर्थस्वरूप इति सर्वमनवद्यं, सरल सुगमञ्च। न जानेऽत्र श्रीमद्धनश्यामेन 'दुर-धिगतसम्बन्धपदावलिविशिष्टता' कुतो दृष्टिगोचरीकृता। अथवा किमसुलभं घनश्यामश्यामिकाश्यामायमानदिग्दिगन्तरालानामेषाम्।

---

८—तृतीय श्लोकमें 'आनन्दः स्वात्मविदितः' यहांपर 'आत्म-विदितः' यह पद आनन्दका विशेषण है। तो आप फरमाते हैं। कि आनन्द शब्द 'स्वात्मविदितस्तदर्थो वा' अर्थात् आनन्द अपनी आत्मामें जिसका अनुभव हुआ है वह है अथवा तदर्थक ? अभिप्राय यह है कि स्वामीजी अपने नाम दयानन्द में आयेहुए आनन्द पदका बोध कराना चाहते हैं या आत्मैकानुभवगम्य आनन्द शब्दका ? देखिये इनके प्रश्नकी चमत्कृति को तो देखिये ! बालक भी तो आसानी से ऐसे प्रयोग समझ जायंगे। इस प्रकारके प्रयोग, शब्दमें शब्द बुद्धिसे और अर्थ में अर्थ बुद्धिसे अर्थके द्योतक हुआ करते हैं। वास्तवमें, 'स्वात्मविदितः' यह पद आनन्द पदका विशेषण है दया पदसे परे कैसा आनन्द ? इस आ-कांक्षामें उत्तर देते हैं। स्वात्मविदित। वह आनन्द जब दयानन्द सर-स्वती इस नाम ( शब्द ) का सङ्केत पाता है तो शब्दका और जब अर्थ की तरफ दृष्टि जाती है तब अर्थ का सुस्पष्टतया बोध कराता है। बिल्कुल सरल और सुगम प्रयोग है किन्तु पं० घनश्यामजी ने इसमें 'दुराधिगतसम्बन्धपदावलिविशिष्टता' के कहां और कैसे दर्शन किये कुछ समझमें नहीं आता। अथवा घनश्यामजीके लिये क्या सुलभ नहीं ?

१० किञ्च "अग्रशब्दस्य पूर्वार्थाभिधायित्वमुद्दिश्य यत्किमपि जल्पितं तदपि तस्य बालचापल्यकल्पितम् । कुतः । अग्रशब्दस्योभयार्थपरत्वस्य सर्वशिष्टसम्मतत्वात् । तदर्थपरतयैव प्रचुरप्रयोगदर्शनाच्च । परं महात्मन् । "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धोन पश्यतीति क्षणं सक्षणेन विस्फारितेक्षणेन किञ्चिन्निरोक्ष्यताम् । 'पुरत' इत्यर्थवाचकत्वमेवाग्रशब्दस्य बहुत्र साहित्ये समवलोक्यतेः–तथाहि

'अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रिसमर्पित चुम्बकजानुः ।
इहसंसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ! ॥
( इति चर्पटमञ्जर्यां ) शङ्कराचार्यः ।

तदत्र पृष्ठपदसाहचर्यादग्रपदस्य 'पुरत' इत्यर्थपरत्वं न कोऽपि निह्नोतुं परिवृढ इति दृढं साम्रेडमाक्ष्वेड्य प्रणिजागद्यते ऽस्माभिः । अपिच—

"वाच्यतां समयोऽतीतः स्पष्टमग्रेभविष्यति ।
एवं पाठयतां ग्रन्थे–काठिन्यं कुत्र विद्यते ।
( सुभाषितम् )

---

१० फिर इसी श्लोकमें 'अग्र' शब्द के पूर्वार्थाभिधायित्व को लेकर जो लम्बी चौड़ी जल्पना की है वह भी वाल्यचपलता से प्रेरित हो करही की है ! क्योंकि यह स्पष्ट है कि अग्र शब्द दोनों अर्थों में आता है । जहां 'पहिले' इस अर्थमें इसके अनेक प्रयोग हैं वहां 'आगे' इस में भी कुछ कम प्रयोग नहीं हैं । बल्कि साहित्यमें 'आगे' (पुरतः या सामने) एतदर्थक ही प्रयोग अधिकतर दिखाई देते हैं । जैसे कि शङ्कराचार्य जी चर्पटमञ्जरी में 'अग्रे वह्निः' इत्यादि श्लोक में पृष्ट शब्द के साहचर्य से अग्रपद का अर्थ 'सामने' अथवा सम्मुख यही हो सकता है अन्य नहीं । यही नहीं आगे देखिये "वाच्यतां समयोतीतः" इत्यादि सुप्रसिद्ध श्लोक में अग्र शब्दका 'आगे' यह अर्थ स्पष्ट ही है । घनश्यामजी आपही बताइये यदि अग्र शब्द

पद्येऽस्मिन्नग्रशब्दस्य केवलं पूर्वार्थाभिधायित्वे 'स्पष्टमग्रे भविष्यति' इहाग्रपदस्य भविष्यति पदेन सहान्वयः कथं संश्लिष्यते ? किञ्च—

"अग्रे तार्किककेसरिः प्रचलति क्रोधेनरक्तेक्षणः ।
पश्चाद्याति च शब्दचारुचतुरः कालापशार्दूलकः ।
तन्मध्ये कविते ! कुरङ्गदयिते ! शक्नोषिचेज्जीवितुं ।
हारं रत्नमयं गले तव तदा दास्याम्यहं सादरम् ॥"

( सुभाषितम् )

अत्रापि पश्चादिति पदसाहचर्य्यात् 'पुरत' इत्यर्थपरत्वमेवाग्रपदस्येति सुतरां सिद्धम् । तदेतेनैवैतच्छ्लोकगता अन्येऽपि दुराक्षेपाः समस्ता अपास्ता वेदितव्याः । किं भोः ? अधुनाऽपि तव कण्डूमर्दनं जातं नवा ?

११ हितायेति पदमवलम्ब्य 'हितशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमजानतैवा त्रभवता हितायेति निबद्धमिति'–यच्चोक्तं तदपि निस्स-

---

पूर्वार्थ वाचक नहीं केवल भूतार्थ काही द्योतक है तो उक्त श्लोकमें भविष्यति के साथ अग्र पदका अन्वय कैसा होगा ? यहां स्पष्टमग्रे भविष्यति" अर्थात् आगे स्पष्ट हो जायगा । अग्रशब्द साफ २ भविष्यार्थ का बोध कराता है ? फिर आपने यह लिखनेकी कि अग्र शब्द केवल भूतार्थ वाचकही होता है कैसे हिम्मतकी ? एक जगह नहीं अनेक स्थानोंपर वैस प्रयोग देखने में आते हैं । और लीजिये " अग्रे तार्किककेसरिः प्रचलति " इस पद्यमें भी 'पश्चात्' अर्थात् पीछेसे इस पदकी सहचरतासे अग्र शब्दका 'आगे' यही अर्थ सुतरां सिद्ध है । बस इतने मात्र से ही विद्वान् इस श्लोकान्तर्गत अन्य कुतर्कोंका भी खण्डन हुआ समझें

११ 'हिताय' इस पदकके विषयमें जो आपका यह कथन है कि हित शब्द जिस अर्थ को लेकर प्रवृत्त होता है उसके निमित्तको न जानते हुए ही अपने 'हिताय' इस चतुर्थ्यन्त पदका प्रयोग किया है

त्वम् । प्रयोगप्रकाराणां वैविध्यात् । तेषां प्रयोक्तृतन्त्रत्वाच्च । अतः शैलीमवलम्ब्य दोषोद्घाटनं केवलं केशचर्म्मोत्पाटनमेवनूनम् ।

१२ 'सत्यमानतः' इत्यस्य निरर्थकत्वं प्रतिपिपादयिषुर्यदाह एष श्रीधनस्तदपि विलक्षणमेव । को नामान्यो वदान्यो घनश्यामं विनै तत्पदं निरर्थकं निर्ब्रूयात् । घनश्याम ! किञ्चिदधिकं ज्ञानं सम्पादनीयं । नहि तवैतावदल्पतममस्ति पर्याप्तं महर्षेः कृतिमवगन्तुमपि समालोचयितुं तुपुनः किमुनाम । शृणु । मीयतेऽनेनेति मानं=प्रमाणम् । सत्यस्यमानं सत्यमानं तस्मात्सत्यमानतः सत्यप्रमाणतः परीक्ष्य सत्यतुलया समुत्तोल्येतियावत् । तदेवं व्युत्पद्यमानेनैतच्छब्देनैव सुतरां तस्य सार्थकत्वे सिद्धे कथन्नाम तस्य निरर्थकत्वं घनश्यामेनोपलब्धमिति भूयोभूयो विचार्यमाणमपि प्रज्ञापथंनावतरति ।

---

सो निस्सार है । क्यों कि प्रयोग करने की शैली अपनी जुदा होती है । जो कि प्रयोग कर्ताके अधीन है जैसा चाहे वैसा प्रयोग करे । हां यदि इसमें कोई अन्य दोष होता तब आप कह सकते ? केवल शैलीके ऊपर आपका आक्षेप करना तो केवल बालकी खाल निकालनेके समान ही है ।

१२ "सत्यमानतः" इस पदको निरर्थक बता कर तो अपने अपनी लेखनी कोही व्यर्थ बना दिया । श्रीमान् पं. घनश्याम जीके सिवाय और कौन है जो इस पदको व्यर्थ बतावे । महाशय घनश्यामजी ! अच्छा होता कि अभी आप कुछ और अधिक ज्ञान सम्पादन करते ? आप का यह ज्ञान ( जो कि अपने भूमिका भास लिखकर दिखाया है ) महर्षिके ग्रन्थों को समझने केलिये भी अपर्याप्त है फिर उनकी समालोचना करने की तो कौन कहे ? देखिये 'मीयते अनेनेति' मानम् । मान कहते हैं माप को तराजूको सत्यकी तुला ( तराजू ) पर तुला हुआ । अर्थात् सत्यार्थ कैसा ? सत्यकी तुला से तुला हुआ । कितना सुंदर अर्थ

१३ किञ्च अवधारणार्थपरोप्येव शब्दश्चेत्तव सुधास्थितिक एवं प्रतिभाति तर्हि "लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति। इतिमात्रमुक्तमेवात्रसूक्तं भवति किम्मुधा पल्लवितेन। केवलमेक मात्रमिदंभाष्यं मनुष्याणां हितायैव न पुनः किञ्चिदन्यहेतुकमिति तात्पर्य्येण प्रयुक्तेन 'एव' शब्देनाऽन्ये सर्वेऽपि हेतवो व्यवच्छिद्यन्ते। तदेवमर्थपरोऽयं शब्दस्सार्थकोऽपार्थको वेति स्वयमेव सहृदयैरवधार्यताम्।

१४ यच्च "संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।" इत्यत्र संस्कृतप्राकृताभ्यामिति पदमाश्रित्य श्रीमद्दयानन्दाचार्याणामुद्भटपाण्डित्यमाक्षिप्तं तदप्यस्य विभ्रमविलसितम्। निष्क्रान्ताभ्यां संस्कृतप्राकृत शब्दाभ्यां सुतरांतन्निष्पत्तेः। संस्कृता

---

है किन्तु घनश्यामजी को तो यह भी निरर्थक ही लगता है। किया क्या जाय ? न जाने किस झोंकमें इन्होंने ऐसे युक्ति युक्त पदों कोभी निरर्थक समझलिया कुछ समझ में नहीं आता।

१३ 'एव' के अवधारण अर्थात् निश्चय ये ही अर्थ होते हैं यह लघु कौमुदी पढ़ने वाले बच्चे भी जानते हैं परन्तु यदि भी घनश्यामजी को यह भी व्यर्थ ही लगता है तो "लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यतिति" अर्थात् नेत्रहीन अन्धे पुरुषों के लिये दर्पण भी किस काम का यही कहना पडता है। भाई यह भाष्य केवल एकमात्र मनुष्यों के हित के लिये ही बनाया जाता है इसका अन्य कुछ हेतु नहीं। इस प्रकार 'एव' शब्दके के प्रयोगसे अन्य हेतुओंका व्यवछेद किया गया है। फिर यह एव शब्द निरर्थक है या सार्थक जरा बुद्धिमान लोग स्वयं ही विचारें ?

१४ "संस्कृत प्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यां मन्वितं शुभम्" इसश्लोकमें 'संस्कृतप्राकृताभ्यां" इस पदपर आक्षेपकरते हुए ऋषि दयानन्दके पाडित्यपर हमला किया है। वहभी केवल घनश्यामजी की भ्रान्तिकेविलासका

च प्राकृता च संस्कृतप्राकृते ताभ्यां संस्कृतप्राकृताभ्यामितीतरेतरयोगद्वन्द्वे कृते सुघटतया साधुत्वाच्च । नाऽत्र मात्रयापि व्याकृतिशास्त्रं व्याकुलीभवति । घनश्यामशर्मन्? अधीष्व तावद्व्याकरणं, विधेहि कस्यचिच्चरणकमलसपर्य्यामार्यविद्वच्छिरोमणेः। नहि लघुकौमुदीमात्रेण व्याकृतिकुमुदनीनाथतां श्रुतबोधेन च केवलं साहित्यशास्त्रसनाथतां भजन्ते जनाः ।

१५-अपिच 'मन्त्रार्थवर्णनं किं भाष्याद्भिन्नं भवति तत्स्वरूपं वेति पृच्छाऽपि तस्य स्वेच्छाचारचेष्टितमेव । भाष्यपदार्थवर्णनयोश्च सुतरां विश्लिष्टत्वात् । भाष्यस्याक्षेपसमाधानपुरस्सरव्याख्यानपरतया, अर्थवर्णनस्य च केवलं वृत्तिरूपपदार्थप्रतिपादनपरत्वेन, नाऽत्राणुमात्रमपि किञ्चिद्विप्रतिपद्यते ।

---

नमूनाही है । क्यों कि यहां निष्ठान्त संस्कृ तथा प्राकृत पदोंका ग्रहण है । संस्कृताच प्राकृताच संस्कृतप्राकृते ताभ्यां संस्कृतप्राकृताभ्यां इस प्रकार इतरेतर योग द्वन्द्व करने पर यह प्रयोग व्याकरणशास्त्र की दृष्टिसे बिल्कुल शुद्ध है । महाशय घनश्यामजी जरा व्याकरण पढ़िये और किसी आर्य विद्वच्छिरोमणि की चरणसेवा कीजिये । केवल लघु कौमुद्री मात्रके अध्ययनसे ही कोई व्याकृति ( व्याकरण ) कलानाथ ( चन्द्र ) अथवा केवल श्रुतबोधके श्रवणसे ही साहित्यशास्त्रसे सनाथ नहीं हो जाता ? अस्तु ।

१५ 'मन्त्रार्थवर्णनं भाष्यसे भिन्न होता है या तत्स्वरूप ?' यह पूछना भी इनका स्वेच्छाचार चेष्टित ही है । क्यों कि सब जानते हैं कि भाष्यमें तथा पदार्थवर्णन में कितना भेद है । भाष्य कहते हैं जिसमें आक्षेप समाधानपूर्वक विशद व्याख्यान किया जावे । और अर्थवर्णन केवल वह है जिसमें संक्षेपसे वृत्तिरूपसे पदार्थमात्र बतलाया जावे । फिर घनश्यामजी का यह संन्देह कि मन्त्रार्थ वर्णन भाष्यसे भिन्न है या तत्स्वरूप ही कुछ अर्थ नहीं रखता ।

१६–"आर्याणामित्यादिपद्ये" किमृषय आर्या न भवन्ति? मुन्यृषिशब्दयोश्च कोऽस्ति पारमार्थिको भेद इति यत्पृष्टं तदपि व्यामोहविशिष्टमेव। एतयोर्भेदस्य सर्वसाधारणविदितत्वात्। मुनयो हि मन्त्रमन्तारो भवन्ति। ऋषयश्च पुनस्तद्द्रष्टार इति पांसुलपादहालिकोऽपि विजानाति! विदुषां विषयेतु किमु नाम वक्तव्यम्। आर्याणामितिपदं मुन्यृषीणामित्यस्य विशेषणम्। तदेवं क्वास्त्यत्र तेषामार्यानार्यत्वास्तित्वविचारणावकाशः। हन्त। नच नास्ति, पण्डितराज! *तव पण्डितप्रकाण्डस्यैतदकाण्डताण्डवम्?*। इदमत्राध्यवसेयम्। अत्र हि आर्यमुन्यृषीणां सनातनीं व्याख्यारीतिं समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते इति प्रतिज्ञायते

---

१६ 'आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।" इसपद्यमें क्या ऋषि आर्य नहीं होते जो मुनि तथा ऋषि इनपदों का विशेषण आर्य दिया है। और मुनि तथा ऋषिमें भी क्या कोई खास विभेद है? जो दोनों पदों को दिया? एक पदका देना पर्याप्त था इत्यादि प्रश्नभी इनके नितान्त अज्ञान पूर्ण हैं। क्यों कि मुनि तथा ऋषि में भेद तो स्पष्ट है। मुनि कहते हैं मननशीलको और ऋषि मन्त्रद्रष्टा को इस प्रकार मनन करनेवाले तथा दर्शन करनेवाले में जो भेद होता है वही इन पदोंमें भी है फिर न जाने घनश्यामजीके सन्देहका स्थान कहां रह। इसी प्रकार दूसरा प्रश्नभी, क्या मुनि ऋषि भी अनार्य होते हैं।? अरे यहां आर्य अनार्य होने की चर्चा कहां है। *यहां तो साधारण रीतिसे "मुन्यृषीणां"* इसपदका "आर्याणां" विशेषण दिया है और विशेषणों की विशिष्टता जगत्प्रसिद्ध है फिर यह प्रश्न आपका सर्वथा निरवकाश हुआ। आपही सत्य कहिये! पण्डितराज? क्या आपका यह केवल अकाण्डताण्डव मात्र न हुआ? देखिये और समझिये स्वामीजी महाराजके लिखनेका अभिप्राय यह है कि आर्य मुनि ऋषियों की सनातनी शैली का अवलम्बन करके

नच प्रतिज्ञाप्रकारः कस्यचिच्छङ्काविशेषमादाय प्रवर्त्तते । अपितु प्रतिपाद्यविषयनिदर्शनं पुरस्कृत्यैव । अस्तिच शिष्टानामेतादृशी सरणिरिति नाविदितं कस्यापि विदुषस्तादिदमपि महापण्डितस्य कथनं शेमुष्युन्मथनानुरूपमेव । अयि ! साधारणप्रयोगानभिज्ञ ? विज्ञहतक ? यदा महर्षिः सच्छास्त्राक्षवाटभुवि गृहीततर्कनिस्त्रिंशस्त्रिंशत्कोटिजनमध्ये समवतीर्णः । निजप्रकाण्डपाण्डित्यदोर्दण्डबलेन चाखण्डं प्रचण्डपाखण्डं चखण्ड । किमासीत्तदानीं कश्चन तदानीन्तनसनातनधर्म्मधौरेयधीधनः? महर्षेर्जाज्वल्यमानतेजासि समुपस्थातुं प्रभविष्णुर्विष्णुभक्तः ? वादं वा विधातुं परिवृढः कश्चिद्दृढः शाक्तः ? महादेवभक्तो वा ? न कोऽपि । तदानीन्तु मृगेन्द्रदर्शनान्मृगा इव संत्रस्ताः समस्ता इतस्ततो व्यस्ततया

---

ही वेदभाष्य किया जायगा यह एक प्रकारसे प्रतिज्ञा हुई और प्रतिज्ञा किसी शङ्कित विषयको लक्ष्यमें रखकर नहीं हुआ करती किन्तु उद्देश्य एव निर्णीतार्थ को पुरस्कृत करके ही हुआ करती हैं । यही शिष्ट विद्वानोंकी शैली हमेशा से चली आती है । फिर आपका उक्त दोषकथन केवल बुद्धिका उन्मथन मात्रही हुआ न ? आपने जो इस निराधार तत्वको लेकर लेखनी का काठिन्य दिखाया और स्वामिजीके पाण्डित्यको न समझ उसका उपहास करनेको चेष्टाकी ? उसके विषयमें हम आपको केवल इतना ही याद दिला देना चाहते हैं कि वह समय अभी दूर नहीं गया जब ऋषि ललकार शास्त्रार्थके मैदानमें तीसकोटि जनोंके साम्मुख्यके उतरेथे और अपने प्रकाण्ड पाण्डित्यसे अखण्ड पाखण्डका प्रचण्डतासे खण्डन किया था । तभी क्या वैष्णव क्या शैव क्या शाक्त सभी सनातन धर्मके मिथ्याभिमानी नोता उधर इधर पूर्व, पश्चिम सटकन्तोवाच्च कर गयें थे । किसी की ऋषिके सामने ठहरने की भी हिम्मत तक न पड़ी थी । जैसे मृगेन्द्र को देख मृगों की हालत होती है वही दशा उस समय के बड़े २

निलिल्यिरे । किन्त्वधुना महर्षितपनस्य प्रचण्डपाण्डित्यप्रतापं पराभवितुकामो भगवान् घनश्यामो घनश्याम इव समुद्यतः ।

हते द्रोणे हते भीष्मे कर्णे चापि महाबले ।
आशा बलवती राजञ्छल्यो जयति पाण्डवान् ।

इति स्थान एवात्र नितरां घटतेतरामिति किंबहुना पल्लवितेन ।

१७-किञ्च " येनाधुनिकभाष्यैरित्यादिश्लोकं पुरस्कृत्य यत्किमपि समाक्षिप्तं तदपि विक्षिप्ततोपोद्बलकम् । कथमिव किरातो मणिमुक्तागणग्रहणे प्रभविष्णुर्भवेत् । अत्र तु स्पष्टमेव येनेत्यादिना " आर्याणामित्यादिश्लोकविहितप्रतिज्ञायां हेतुत्वप्रदर्शन-

---

धुरन्धरों को हुई थी परन्तु अब महर्षिदयानन्दभास्कर के प्रचण्ड पाण्डित्यप्रताप को पराभूत करने के लिये श्रीमान् पण्डित घनश्यामजी घनश्याम ( काले बादल ) के सदृश उद्यत हुए हैं । जिनकी इस अनाधिकार चेष्टाको देखकर हमें भी यह श्लोक याद आता है:-"हते द्रोणे हते भीष्मे " इत्यादि इसका अभिप्राय यह है कि जब द्रोणसे आचार्य मारे गये, भीष्म जैसे बलधारी ब्रह्मचारी भी शरशय्याशायी हुए कर्ण जैसे महारथियों को जिन पाण्डवों के प्रखर बाणों ने धरणीतलशायी बना दिया अब उनको हे दुर्योधन ? शल्यजीतलेंगे, यह केवल आपकी आशा मात्रही है ? सो जिन महर्षि के सामने बड़े २ धुरन्धर विद्वानोंने उलटी मुंहकी खाथी है । अब उनके सामने श्रीमान् घनश्यामजी अपना तीरतमञ्चा लेकर उठे हैं ? क्यों नहीं घनश्याम ही ठहरे । देखिये ! भगवान् खरे करें ?

१७. किञ्च ' येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषका " इत्यादि श्लोक में जो आक्षेप किया वह भी केवल इनकी विक्षिप्तता काही द्योतक है । और किस प्रकार कोई किरात. मुक्तमणि ग्रहण में समर्थ हो सकता है । महाशय ? यहां तो स्पष्टही ' येनेत्यादिना ' इस पदसे ' आर्या-

पूर्वकं सुतरां प्रार्थनावकाशं ज्ञापयत्याचार्यप्रवृत्तिः । यच्च येनेतिपदेनैव सुतरां विशदीक्रियते । इदमत्र बोध्यम् । येन भाष्येणाधुनिकसमुपलभ्यमानभाष्यैष्टीकाभिश्चोद्बोधिताः समुन्मेषिता वा, अन्यथार्थविवर्णना वेददूषका दोषास्ते सर्वेऽपि विनश्येयुः । महर्षिप्रतिपादितभाष्येण सर्वेऽपि दोषा यथा नाशमीयुस्तथाऽयं तस्य प्रयत्नो भवेत्सफल इति हृदयेन समभ्यर्थितो भगवान् जगदेकनाथ इति सर्वमक्षतम् । नन्वाधुनिकपदाकूतकुक्षौ महर्षेर्भाष्यस्यापि निक्षेपः किन्न स्यादिति वाच्यम् । तस्याधुना विधीयमानकोट्यवगाहकत्वेन तत्तदाधुनिकदोषनिबर्हणतया च सुतरां तत्तद्भाष्याभिन्नत्वेनाभिप्रेतत्वात् ।

१८-यच्चा 'धुनिकताऽनाधुनिकतानपेक्षा एवात्र भवता दोषोत्पादिका स्वीकृता किन्तु नादायि कश्चिद्धेतु' रित्यादिकं यत्प्रति-

---

णामित्यादि श्लोककृत प्रतिज्ञा में हेतुप्रदर्शन पूर्वक प्रार्थनाकी गयी है, यही आचार्यप्रवृत्ति बताती है। जो स्वयं 'येन' ( जिसहेतुसे ) इस पदसे ही सिद्ध होता है! सुनिये। इसका तात्पर्य यह है कि जिससे आधुनिक उपलब्ध होनेवाले वाले भाष्य तथा टीकायें जिन में अन्यथार्थ विवरण अर्थात् विपरीत अर्थका प्रतिपादन किया गया है जो कि वेदों को दूषित करने वाले हैं। उन सब दोषोंका नाश हो जाय, और सत्यार्थ का प्रकाश हो इसी लिये यह प्रयत्न है। जिसके लिये भगवान जगदेकनाथ परमात्मासे प्रार्थना की गई है। इसमें आपका यह कथन कि आधुनिक पदके अन्दर तो स्वामीजी महाराजका भी तो भाष्य आ जाता है फिर कैसे यह बनेगा? केवल बालकों जैसा ही है क्यों कि स्वामीजी का भाष्य तो अधुना विधीयमान कोटिमें होने, तथा आधुनिक भाष्योंके दोषको दूरनेवाला होनेसे उक्त कोटिमें नहीं आ सकता।

१८ इनका यह कथन भी कि, स्वामिदयानन्दजीने आधुनिक अनाधुनिक की अनपेक्षा को ही दोषोत्पादिका समझा किन्तु कुछ हेतु नहीं

पादितं तदप्यस्य वैतण्डिकताण्डवमेव । प्रतिज्ञायां हेतुत्वनिवेशस्य सर्वथाऽनवकाशात् । भाष्ये च तत्तद्धेतुप्रदर्शनात् ।

१९–किञ्च 'दोषशब्देनैव दूषकत्वे स्फुरति व्यर्थमेव दूषका इति पदमिति यत्तत्तु निरुक्तमुद्रयैव दत्तोत्तरम् । विशेषणानां किञ्चिद्विशिष्यैव लक्षणया चोत्कृष्टत्वप्रतिपादकत्वस्य सर्वानुभवसाक्षिकत्वाच्च किमप्यनुपपन्नम् ।

२०–"अपिच यच्छब्देन कमप्यर्थमभिलप्य पुनस्तदर्थप्रतिपादनाय तच्छब्दप्रयोग एव साधुर्भवति । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्याभिधानिकैः स्वीकृतत्वात् । इति यत्तदपि तस्यानभिज्ञत्वज्ञापकमेव । यत्तदोः प्रयोगस्यात्र सर्वथाऽदर्शनात् । क्वास्त्यत्र तादृशो यच्छब्दप्रयोगो यं परामृश्य तत्पदमाचार्यः प्रयुञ्जीत ? किमिदं घनश्याम ! नास्ति तवोन्मत्त प्रलपितम् ! कथञ्चिद्दुर्जनतोषन्यायेनतत्स्वीकारेऽपि येनेति, तदुत्तरत्वेन तेनेति स्वयंसुतरामेव समाक्षिप्यत इत्यदोषः ।

---

दिया वैतण्डिकताण्डव के समानही है । कारण प्रतिज्ञामें हेतुका समावेश नहीं हुआ करता । और भाष्यमें स्थल स्थल पर उस प्रकारके अनेक दोष दिखायेगये हैं ।

१९ आपका यह कथन कि दोष शब्दसे ही दूषकत्वका मतलब सिद्ध हो जायगा । दूषक पद व्यर्थ ही दिया, इसका उत्तर तो विद्वद्वृन्द उपरि वर्णित रीतिसे ही समझ लें । कि विशेषण कुछ न कुछ अवश्य विशेषता होनेके कारणही दिये जाते हैं । इत्यादि ।

२० और "यत्" शब्दसे किसी अर्थको कहकर फिर उसके अर्थके प्रतिपादनके लिये 'तत्' पदका होना अवश्यक हुआ करता है क्यों कि यत् तथा 'तत्' का नित्यसम्बन्ध मानागया है'। आपका यह आक्षेप भी नितान्त भ्रममूलक है । प्रथमतो उस दृष्टिसे यहां पर यत् का प्रयोग नहीं कथञ्चित् स्वीकार भी करलें तो 'तेन'का सुतरां समाक्षेप हो जायगा इस लिये यह कोई दोष नहीं ।

२१–" किञ्च येनेति साकाङ्क्षपदं कथङ्कारं प्रत्यपादि " इति पृच्छाऽपि निरवकाशैव। काव्यकलायां साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षचर्चाया अनादरात्। तत्र भूयःसु स्थलेषु तादृशसाकाङ्क्षपदप्रयोगप्राचुर्य-दर्शनाच्च।

२१–" आधुनिकभाष्यजनितदोषा नश्येयु रिति कथन्नायुक्तम्? अधुनापि तद्विरहाभावप्रसिद्धेरि " त्यपि न युक्तम्। तादृशप्रसिद्धेः साध्यकोटचवगाहकत्वात्।

२३–यत्तु " द्वितीयपद्ये वेदानां यः सत्यार्थः स प्रकाश्येत, इत्युक्त्वा तस्य सनातन इति विशेषणं निस्सारमेव, सत्येनैव तदर्थसिद्धे-रित्युक्तं तदप्युक्तदिशैव दत्तोत्तरम्। सत्यसनातनयोश्चास्ति भूयान् भेदः। तथाहि भगवद्गीताभाष्ये श्रीमच्छङ्कराचार्य्यैः। ' यथादृष्टस्य

---

२१ ' येन ' इस साकाङ्क्ष पदका प्रयोग क्यों किया? यह प्रश्न भी नहीं हो सकता। क्यों कि कविता में साकाङ्क्ष तथा निराकाङ्क्ष पदके विचारका कुछ विशेष आदर नहीं है। और साहित्यमें अनेक स्थलों पर इस प्रकारके प्रयोग देखे जाते हैं।

२२ ' आधुनिक भाष्य जनित दोष, नाशको प्राप्त हो जावें यह कथन भी स्वामी जी का ठीक नहीं क्योंकि अधुना भी वैसे दोष देखने में आते है " आपका यह पक्षभी अयौक्तिक है। क्योंकि वैसे दोष प्रसिद्धि अथवा दोषोंका दृष्टिगोचर होना यह स्वयं साध्यकोटि का अवगाहन करता है। अर्थात् स्वयं असिद्ध है अतः प्रमाण नहीं माना जासकता।

२३ और दूसरे पद्यमें ' वेदानां यः सत्यार्थः ' यह कहकर सत्यार्थ का सनातन यह विशेषण निरर्थकही दिया? इसका तो पूर्व उत्तर दिया जाचुका है। कि विशेषण निरर्थक नहीं हुआ करते। और सत्य तथा सनातन, पदके अर्थोंमें भी बड़ा भेद है देखिये भगवद्गीताभाष्यमें श्रीमान् शङ्कराचार्यजी महाराज लिखते हैं.–" यथा दृष्टस्येति " अर्थात्

यथाश्रुतस्यचात्मानुभवस्य परबुद्धिसङ्क्रान्तये तथैवोच्चार्यमाणा-वाक् सत्यम्। " इति सत्यस्य सनातनस्य च विशेषः।

२४-"ईश्वरस्य सहायेन" इत्यत्र सहायपदं न रमणीयम्। सहायतार्थशक्तिविरहात्। इति यत्तदपि पण्डितप्रकाण्डस्य व्याकरणानभिज्ञात्वद्योतकम्। भाववाचकस्यापिसहायशब्दस्य सुतरां निष्पत्तेः। तथा चेदमत्र बोध्यम्। यद्यपि लोके कर्तृवाचक एव सहायशब्दः प्रसिद्धस्तथापि तस्य भाववाचकत्वनिष्पत्तिः केनापि वैय्याकरणेन नापह्नोतुं शक्यते। कुतः? उच्यते। इण् धातो 'एरच्' इत्यनुशासनेन भावे घञर्थाज्विधानेन सुतरां राजमार्गेणैव तन्निष्पत्तेः। तथा च 'अयनं अयः प्रापणमित्यर्थः। अयेनसह सहायः सहप्राप्तिरित्यर्थस्साधकत्वमितियावत्। तदिदमीश्वरस्य सहायेन-साधकत्वेनेति सर्वमवदातम्। नास्त्यत्र मात्रयापि काचिदनुपपत्तिरिति।

---

जैसा देखा हो जैसा सुनाहो वैसेही अपने अनुभव को दूसरे की बुद्धिमें संक्रान्ति के लिये उसी प्रकार से ( विना किसी फेरफार के ) कही गयी हुई वाणीका नाम सत्य है। सनातन कहते हैं सदातन को इस प्रकार सत्य सनातन शब्दका भेद स्पष्ट ही सिद्ध हुआ। फिर न जाने श्रीमान् जीको क्यों सन्देह उत्पन्न हुआ ?

२४ " ईश्वरस्य सहायेन " इसमें सहायपद ठीक नहीं है। क्यों कि इसमें सहायता अर्थ की शक्ति नहीं। यह कथन भी पण्डित प्रकाण्डका व्याकरणशास्त्र से अनभिज्ञत्व का ही द्योतन कराता है। कारण कि 'सहाय' शब्द तो भाववाचक भी तो सिद्ध होता है। सुनिये। यद्यपि लोकमें सहाय शब्द कर्तृवाचक ही प्रसिद्ध है तथापि व्याकरण शास्त्रके अनुसार यह भाववाचक भी हो सकता है। तथाच 'इण्' इसधातु से 'एरच' इस सूत्रसे भावमें घञर्थ अच् प्रत्ययकरने से सीधे राजमार्ग से सहायशब्द भाववाचक सिद्ध हो जाता है। जिसका अर्थ सहप्राप्ति एवं साधकता होता है। ईश्वरके सहाय से अर्थात् साधकता से

२५–" किञ्च सुसिध्यतामित्यत्रापि * बहुस्खलितमिति यत्तदपि निस्सत्वम् । श्रीमत्पण्डितभीमसेनशर्म्मणाऽस्य पूर्वमेव स्वकीय-आर्यसिद्धान्ते दत्तोत्तरत्वात् । पुनः पिष्टपेषणस्य च वैय्यर्थ्यापत्ते नोत्र तदुद्धियते । जिज्ञासुभिस्तत्रैवानुसन्धेयम् ।

---

यह प्रयत्न सफल हो । इसप्रकार इसमें कुछ भी बाधा नहीं रहती । घनश्याम जी ! यदि आपको व्याकरण का बोध होता तो कभी भी ऐसा न समझते ।

२५ किञ्च–सुसिध्यतामिति, इसमें भी आपका यह कथन कि ऋषि दयानन्द से बहुत बड़ी गलती हुई है नितान्त भ्रममूलक है क्यों कि इसपदके शुद्ध होनेके लिये तो श्रीमन् पण्डित भीमसेन जी शर्माने पूर्व ही अपने आर्य सिद्धान्त में अच्छी तरहसे युक्तिप्रमाण पूर्वक लिखचुके है । उसको लिखकर हम पिष्टपेषण नहीं करना चाहते । जिज्ञासुलोग वहींपर देख लें ।

---

* सुसिध्यतामिति नायमेकवचनप्रयोगः । किन्तु लोटः प्रथमे द्विवचनप्रयोगः परस्मै पद एव साधुः । सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्याताम् । अस्य पूर्णस्य श्लोकस्यायमन्वयः । वेदानां यः सनातनः सत्यार्थः सम्प्रकाश्येत चकार उत्तरार्द्धात्प्रयत्नमाकर्षति । ईश्वरस्य सहायेनायं सत्यार्थ प्रकाशन रूपः प्रयत्नश्च प्रकाश्येत । एवं सत्यार्थस्तस्य प्रयत्नश्च द्वावपीश्वरस्य सहायेन सुसिध्यतामिति । एवं सिद्धे कः प्रतिषेद्धुमर्हति ।–( आर्यसिद्धान्त )

**भावार्थः**—" सुसिध्यताम् " इसका समाधान यह है कि यह एकवचनकी क्रिया नहीं किन्तु लोटलकारके प्रथमपुरुषके परस्मैपदमें द्विवचनकी क्रिया है । श्लोकके पूर्वार्द्धमें ' प्रकाश्येत ' क्रिया है । अर्थ यह है कि ईश्वरकी सहायतासे वेदका सत्य अर्थ तथा उस भाष्यके रचनेका प्रयत्न प्रकाशित हो । ईश्वरकी सहायतासे वेदोंका सत्यार्थ और प्रयत्न दोनों सिद्ध हों इस प्रकार व्याकरणकी दृष्टिसे यह प्रयोग बिल्कुल शुद्ध है ॥

२६–" अथेश्वरप्रार्थनाविषय इत्यस्य स्थाने 'अथेश्वरप्रार्थना" इत्येव लिखितुमुचितम् । तद्विषयविशदीकरणप्रवृत्तेरभावात् इति यत्तदप्यतिकदर्य्यम् । प्रार्थनाविषयप्रतिपादनस्यैव वैशद्येनेष्टत्वात् । तद्विषयकानल्पकल्पमन्त्रसमुद्धरणाच्च ।

२७–किञ्च 'विश्वानिदेवेत्यादिमन्त्रस्यव्याख्यानावसरे यदुक्तं 'सत्यविद्याप्राप्त्यभ्युदयनिश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति" इति यत्तत्सर्वं भ्रान्तिविलसितम् । सत्यविद्याप्राप्तेः साक्षाद्भद्रे विनियोगात् । सुख-शब्दस्य सर्वथानिरर्थकत्वाच्च इति" । इति यदाह पण्डितमहाभाग-स्तदपि तस्याज्ञानविलास एव । भद्रशब्दस्य निश्रेयससुखकरपरत्वेन तत्स्वरूपमात्रप्रदर्शनप्रयोजनत्वात् । सुखशब्दस्य निरर्थकत्वे हेत्व-प्रदर्शनाच्च ।

---

२६—' अथेश्वरप्रार्थनाविषयः ' इस पदके स्थानमें ' अथेश्वर प्रार्थना ' यही लिखना उचित था । क्योंकि प्रार्थना विषयकी विशद व्याख्या की प्रवृत्तिका अभाव है । यह कथन भी महाशय घनश्यामजी उपयुक्त नहीं । क्यों कि यहां और करना क्या है प्रार्थना विषयके प्रति-पादन के लिये ही तो यह विषय लिखा गया है । और इसीलिये बहुत से जहां तहां इसी विषयके मन्त्रभी प्रमाण रूपसे उद्धृत किये गये हैं फिर प्रार्थना विषय ऐसा लिखना क्यों उचित नहीं ?

२७—और " विश्वानि देव " इत्यादि मन्त्रके व्याख्यानमें जो यह लिखा है ' सत्यविद्या प्राप्तिसे जो अभ्युदय एवं निश्रेयस वही सुखकारक जो भद्र है " यह भी स्वामीजीका कथन भ्रान्ति पूर्ण है क्योंकि सत्य विद्या प्राप्तिका साक्षात् ' भद्र ' में विनियोग है । और सुख शब्द नि-तान्त निरर्थक है इसलिये ।" यह कथन भी आपका बिल्कुल उपहास के लायक है । इस कथन से आपका तात्पर्य क्या है कि ' सत्यविद्या प्राप्तिका साक्षात् भद्रमें विनियोग है ? भगवन् ! स्वामीजीके वाक्य का अभिप्राय तो समझ लेते ? पीछे ही अपनी क़लम शरीफ़ को तकलीफ़

२८–यच्चोक्तं 'वेदभाष्यकरणानुष्ठानेतिपदं न चारु भाति करणानुष्ठानपदयोरेकार्थवाचकत्वात्। तदपि तस्य बालिशत्वमेव। करणपदस्य साधनार्थकत्वेनानुष्ठानपदस्य च पुनः प्रवर्त्तनपरतया च प्रचुरप्रयोगदर्शनाददोषः।

२९–" दुष्टेति विशेषणं विघ्नानां तदानीमेव सार्थकतां भजेत इष्टा अपि विघ्ना यदा स्युरिति शङ्काऽप्यस्य विभ्रमपङ्ककलङ्किता। विशेषणानां किञ्चिदुत्कृष्टत्वपरत्वस्य सर्वशिष्टाभीष्टत्वात्। महात्मन्! विशेषणैः किमपराद्धं भवतां यदेषां मूलमेव समुन्मूलयितुं सञ्जातो भवान् बद्धपरिकरः! अथवा तादृशविशेषणदूषणप्रदर्शनव्यसनं

---

देते? भद्र शब्दका अर्थ स्वामीने यही स्पष्टतया विशद रीतिसे बताया कि सत्यविद्यासे प्राप्त सुखकारक जो अभ्युदय एवं निश्रेयस रूप भद्र है। हे प्रभो! वह हमें प्राप्त कराइये। बिल्कुल स्पष्ट है न जाने घनश्यामजी को भ्रांति युक्त कैसे प्रतीत हुआ। और सुख शब्द के निरर्थक होने में आपने कोई हेतु नहीं दिया, इसलिये अहेतुक बातके विषयमें हम क्या लिखे?

२८—" वेद भाष्य करणानुष्ठान " यह पदभी ठीक नहीं हैं क्योंकि करण और अनुष्ठान पद तो एकार्थवाचक ही है?" यह भी आपका कथन बालिशत्व द्योतक है। क्योंकि करण शब्दका अर्थ साधन है। और अनुष्ठान का अर्थ है प्रवर्त्तन (आचरणमें लाना अमल करना)। फिर दोनों एकार्थ कैसे? और साहित्यमें इस प्रकारके करण तथा अनुष्ठान पदका भेद बताने सैंकडों प्रयोग देखने में आते हैं।

२९—और आपका यह कथन भी कि विघ्नोंका दुष्ट विशेषण तभी हो सकता है जब कि विघ्न इष्ट भी हो। भ्रान्तिके पङ्कसे कलाङ्कित है। क्यों कि हम पहिले ही अनेक स्थलों पर कह चुके हैं कि विशेषण हमेशा कुछ न कुछ उत्कृष्टता प्रतिपादन के लिये ही दिया जाया करते

सहजमेव श्रीमतां प्रतीयते । अन्यथा कथं पदे पदे तत्खण्डने प्रचण्डौद्दण्ड्यं सम्भाव्येत । किञ्चास्माभिः पृच्छ्यते श्रीमद्भिराद्य एव पद्ये 'श्रीशङ्करं भुवनशङ्करमाश्रयेऽहम्" इत्यत्र किं कश्चिद्भुवनस्याशङ्करोप्यस्ति यच्छ्रीशङ्करस्य भुवनशङ्करमिति विशेषणं प्रदत्तम्! चेन्नास्ति किमर्थं तद्विशेषणम्? भगवन्! विशेषणप्रदानं हि पदानां भूषणं भवति न जातु दूषणम्। यदि भवतां नयेन दूषणत्वमेव तेषां तर्हि कथन्न भवानपि तथाचरन् "परं क्षिपति दोषेण वर्त्तमानः स्वयं तथेति नीतिविदां वादेन निगृहीतः स्यात्?

---

हैं। महात्मन्। विशेषणों पर जनावकी इतनी नाराज़गी क्यों है? इन बेचारोंने आपका क्या विगाड़ा है? जो आपने इन बेचारों के समूलोच्छेद करने की ही ठान ली है। अथवा आपको विशेषणों को दूषण बनाने का स्वाभाविक व्यसन ही हो गया मालूम होता है। अन्यथा पदे पदे उनके खण्डन करने इतनी प्रचण्ड उद्दण्डता न दिखाते। यह मामला क्या है? और हम आपसे पूछते हैं कि आपने अपने बनाये हुए प्रथम श्लोक में ही "श्रीशङ्करं भुवनशङ्करमाश्रयेऽहम्" इसमें शङ्कर का विशेषण भुवनशङ्कर क्यों दिया? क्या कोई शङ्कर भुवन अकल्याण करने वाला भी है जो आपने उक्त विशेषण दिया? यदि नहीं तो फिर विशेषण क्यों दिया? हज़रत आपने तो एकार्थवाचक शब्द ही विशेषण विशेष्यभावसे प्रयुक्त किये हैं? तो आपही बताइये कि आप "परं क्षिपति दोषेण वर्त्तमानः स्वयं तथा" अर्थात् स्वयं उसी दोषमें लिप्त होता हुआ भी दूसरोंपर वही दोष लगाता है इस नीतिज्ञों के कथन के अनुसार आप पर ही यह दोष (यदि यह दोष है?) तो क्योंनआयद हो? भगवन्। याद रखिये- विशेषण प्रयोग तो पदों का भूषण होता है दूषण नहीं। ज़रा विशेषण विशेष्य भावकी उपयोगिता को समझिये?

३०–" यच्च · शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादिभद्र-मस्ति " इत्युक्तं तदस्पष्टार्थकत्वादतिसंशयास्पदम् । तदपि न चारु । तस्य प्रत्यक्षमेव स्पष्टार्थं द्योतकत्वात्। तथाहि शरीरश्चबुद्धिश्च शरीर-बुद्धी त एव सहाये यस्य कौशलसत्यविद्याप्रकाशादेस्तच्छरीर-बुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि तदेव ताद्दग्रूपं वा यद्भ-द्रमिति तद्व्युत्पत्तेः । तदेवं सर्वमेतदक्षतम् । महात्मन्? नैष स्थाणो-रपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति ।

३१–"एतेनैवसहायादिविन्यासस्तुनितरामसङ्गत" इत्यप्यपास्तम्

३२–" निराकारभगवत्कृपाकटाक्षोऽपि भवन्मुखारविन्दान्निसृतो न चारुतां विभर्त्ति । निराकारमूर्तिं प्रति दृढवैरत्वाद्भवतः । इत्यप्य-

---

३० " यच्च शरीरबुद्ध्यादि " इस वाक्यको स्पष्टार्थ न होनेकी वजहसे संशयास्पद बताया है सोभी ठीक नहीं । क्यों कि इसके अर्थ इतने स्पष्ट हैं जितने किसीके हो सकते हैं । देखिये शरीर और बुद्धि ये दोनो सहायक हैं जिसके ऐसी जो कुशलता तथा सत्यविद्या प्रकाश तत्स्वरूप जो भद्र है । कितना साफ़ अर्थ । यदि इतने साफ़ अर्थ के समझने मेंभी आपको दिक्कत पडी तो यही कहना पड़ता है । कि " नैषस्थाणोरपराधो यदेनमन्धोन पश्यतीति " अर्थात् यह कम्भे का अपराध नहीं कि जो अन्धा उसे नहीं देखता ( और टक्कर खाकर सिर फुड़वाता है )

३१—इसीसे 'सहायादि' विन्यास बिल्कुल असङ्गत हैं इसका मण्डन हुआ भी समझ लेना चाहिये ।

३२—" निराकार भगवान् " का कृपा कटाक्ष यह पदभी स्वामी-जीके मुखारविन्दसे निकला हुआ शोभा को प्राप्त नहीं होता क्यों कि इनकी तो निराकारकी मूर्त्तियोंके प्रति बडी भारी दुशमनी है । " यह

युक्तम् । तादृशप्रयोगाणामौपचारिकत्वात् । औपचारिको ह्ययं प्रयोगो न तद्दृढवैरं विरुणद्धि ।

३३–" किञ्चास्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्तप्रीतिर्यथास्यात् तथैवभवता कार्यमित्यत्रापि परमश्रद्धया या प्रीतिः सम्पत्स्यते किं तस्यामपि न्यूनताशङ्कया ? यत्प्रीतेरत्यन्तेतिविशेषणं दत्तमित्यपि समस्तं निर्दिष्टदिशैवपास्तम् ।

३४–" किञ्च परमेश्वरं प्रतिकार्यमित्यादि पदप्रयोगो नैव युक्तः । आज्ञार्थस्य ततो भानात् । इत्यप्ययुक्तं प्रार्थनार्थस्य ततो भाने बाधाविरहात् । वक्त्रा तत्परत्वेनैव च प्रयुक्तत्वाच्च ।

---

बात भी प० घनश्याम जी की व्यर्थ ही है । क्यों कि ऐसे प्रयोग आलङ्कारिक होते हैं । एवं उपचारसे किये जाते है । इस लिये इन प्रयोगोंसे दृढ वैरमें ( यदि दृढ़वैर इसको कहा जा सकता हो ? ) किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता ।

३३—' किञ्च वेदभाष्यमें मनुष्यों की परम श्रद्धासे अत्यन्त प्रीति जिसप्रकार हो उसी प्रकारका प्रयत्न करना चाहिये । " इस वाक्यमें प० घनश्यामजी शङ्का करते हैं कि परम श्रद्धासे जो प्रीति होती है क्या उसमें भी किसी प्रकार की न्यूनता रह जाती है जो प्रीति का अत्यन्त यह विशेषण दिया ? क्या ही चमत्कारिक प्रश्न है ? मालूम होता है कि विशेषणों से इनकी ज़ाती दुश्मनी है ? इसीसे विज्ञ लोग समझ लें ।

३४—" परमेश्वरं प्रति कार्यमिति " यह प्रयोग करना ठीक नहीं क्यों कि इसमें ' कार्य ' इस पदसे ' करना चाहिये ' ऐसी आज्ञा अथवा हुक्म की प्रतीति होती है । और परमेश्वर के प्रति हुक्म चलाना यह सर्वथा अनुचित है ।" आपका यह कथन भी निरर्थक है । ' कार्य ' इस पद से ' प्रार्थना ' अर्थ लेने में कोई बाधा नहीं । और आपने भी कोई हेतु नहीं दिखाया । इसलिये प्रयोगकर्ता के भावपर ही रह । यहां चूंकि प्रार्थना का ही भाव झलकता है इस लिये यह आज्ञार्थक नहीं हो सकता ?

३५-अपि च "योभूतश्च भव्यश्च "इत्यादि मन्त्रभाष्ये (सर्वं यश्चाधितिष्ठाति) सर्वं जगच्चाधितिष्ठाति=सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्तीति यद्व्यापितं तन्नसङ्गतमाभाति।मन्त्रगतपदबोध्यार्थबाधाविरहात् । इति यदाशङ्कितं तत्तु नूनमस्य प्रमादप्रसादमात्रमेव। कुतः? उच्यते । उक्तार्थासङ्गतत्वे यदनेन 'मन्त्रगतपदबोध्यार्थबाधाविरह एव हेतुत्वेनोपन्यस्तस्तत्किं तदर्थयुक्तत्वेसाधकं बाधकं वेत्यपिभवान्निश्चेतुं नालम् । किमत्रवयं ब्रूमः । विवेचकैरेव विविच्यतामस्य तार्किकम्मन्यस्य हेतुतर्कजघन्यत्वम् । अस्माकन्तु पुनर्मन्त्रगतपदबोध्यार्थबोधा विरहएवेष्टः ।

३६—यच्चं 'सर्वशब्देन पदार्थजातं परामृश्य 'कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्तीति दण्डिमहाभागेन विन्यस्तं तद्विचार्यमितियत् प्राह

---

३५—"यो भूतश्च" इत्यादि मन्त्रके भाष्य में 'सर्वं यश्चाधितिष्ठति' अर्थात् जो सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता होता हुआ सबसे ऊपर विराज रहा है कालके बन्धनसे ऊपर है स्वामीजीके इस कथन का भी ये असङ्गत ठहराते हैं। और हेतु देते हैं 'मन्त्रगतपदबोध्यार्थ की बाधा न होने से। अर्थात् चूंकि मन्त्रगत पदों के अर्थ बोधमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती इसी लिये स्वामीजीका कथन असङ्गत है। वाह वाह क्या खूब तर्ककुशलता है। मालूम होता है घनश्यामजी के मतमें स्वामी के अर्थ तब सङ्गत ठहरते जब मन्त्रगत पदार्थ समझनेमें कुछ बाधा आती! जरा तार्किक लोग ही इनके तर्कवैचित्र्य को विचारें? हमारे लिये तो मन्त्रगत पद बोध्यार्थ बाधा विरह ही इष्ट है? न जाने (किस पीनकमें इन्होंने ऐसा लिख मारा?)

३६—'सर्व शब्दसे पदार्थ जात का परामर्श करके "कालाधर्ध्वंविराजमानोस्ति" अर्थात् कालसे ऊपर विराजमान हैं यह जो दण्डी महाभागने कहा है सो भी विचारणीय है। अर्थात् ठीक नहीं" घनश्यामजी

पण्डितप्रकाण्डस्तदपि समस्तमस्तव्यस्तम्।प्रकरणवशात्सर्व शब्दस्य, समुदितकालत्रयस्य परामर्शकतया तदूर्ध्वमपि परमेश्वरस्य सत्ताप्रदर्शन एव तद्विन्याससाफल्यात् । इदमत्राध्यवसेयम् । सर्व शब्देन कालत्रयं समुच्चित्य तदूर्ध्वमपि तदीयसाम्राज्यमस्तीति स्फुटं सूपपादितं महर्षिणा । तदेवं यदनेन महर्षेर्भावमनधिगम्यैव, केवलं कालाकलनमेवाकलय्यकिमप्यतितरामप्रासङ्गिकं सङ्गीतसङ्गीतं तन्नूनं विदुषां दृशा हास्यास्पदम् ।

३७-एवं "यस्यभूमिः प्रमा" इत्यादि मन्त्रे सूर्यरश्मिप्रकाशमयाकाशं......इतियदुक्तं तदत्यन्तस्थवीयः केनापि गगनस्य सहस्ररश्मिरश्मिप्रकाशमयत्वप्रतिपादनाभावात् । अत्र मयट् प्रकाशार्थे वास्यात्प्राचुर्यार्थे वा " इत्यादि यदनल्पकल्पं जल्पितं तदपि सर्वं विभ्रमविलसितम् । प्राचुर्यार्थस्यैवमयटोऽत्र विधानात् । 'तत्र-

---

का यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि प्रकरणके अनुसार यहां सर्व शब्द त्रिकालका ही बोधक है । अर्थात् तीनों कालोंसे परे भी परमेश्वरकी सत्ता की प्रतीति कराता है । इसलिये ही सर्व शब्दसे कालत्रय का ग्रहण करके उनसे परे भी ऊर्ध्व भी परमेश्वर का साम्राज्य है यह स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है । परन्तु घनश्यामजीने महर्षि के अभिप्राय को न समझ कर ही केवल काल पद को लेकर जो नितान्त अप्रासङ्गिक सङ्गीत गाया है । वह किस विद्वान् की दृष्टिसे हास्यास्पद न होगा ।

३७—तथा "यस्यभूमिः प्रमा" इत्यादि मन्त्रमें 'सूर्यरश्मि प्रकाशमय आकाश' यह पद बहुत ही शिथिल है । क्योंकि किसीने भी तो आकाशका, सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमय होना नहीं बताया । कारण कि 'प्रकाशमय' इस शब्दमें मयट् प्रत्यय विकारार्थ में हो सकता है अथवा प्राचुर्य ( अधिक्य ) अर्थमें । यदि कहो कि विकारार्थ में है तो यह कहना इसलिये उचित नहीं कि आकाश उत्पत्ति और विनाश इन दोनों धर्मों से रहित है इसलिये उसमें विकार होना घट नहीं सकता । और यदि प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् का होना स्वीकार करो तो भी ठीक

कृतवचनेमयट्' ( अष्टा० ५।४।२१ ) इति पाणिनीयानुशासनात्प्राचुर्यार्थे एव मयड्विधीयते । तदेतत्प्रकाशप्राचुर्यमेवाकाशं दिव् शब्देन व्यपदिश्यते । तथात्वंच तस्य न कर्हिचित्प्रयत्नसहस्रेणापि शक्यं निह्नोतुम् । एवं सति कोऽत्र भवतां मत्सरः ? पण्डितेश्वर ?

किञ्च भोः । पश्यत रेऽस्य कपटपण्डितस्य व्याकृतिपाटवम् । " तदत्यन्तस्थवीयः" इति विलक्षण एव प्रयोगः । अत्र हि तदत्यन्तं स्थूलमिति वास्यात् केवलं स्थवीय इति वा । उक्तार्थानामप्रयोग इति भाष्यात् । न चात्यावश्यकत्वद्योतनार्थमयं प्रयोग इति वाच्यम् । केवलमेवशब्देनैवेष्टसिद्धौ तद्दोषस्य तादवस्थ्यात् ।

---

नहीं क्योंकि आकाश में सूर्य से धारण किये हुए प्रकाश की अधिकता का निर्वचन ही नहीं हो सकता । इत्यादि जो कहा है सोभी ठीक नहीं क्योंकि यहां पर प्राचुर्य अर्थमें ही मयट् मानकर स्वामीजी का प्रयोग है । प्रकाश है अधिक जिसमें ऐसा आकाश ही दिव शब्द वाच्य है । यह बात हजारो प्रयत्न करने पर भी असत्य नहीं ठहराई जासकती । फिर इसमें आपको क्या दिक्कत पेश आयी ? और श्रीमान् कपट पण्डितेश्वरके पाण्डित्यको तौ देखिये ? आप लिखते हैं "तदन्त्यस्थवीयः" अत्यन्तभी तथा स्थवीय भी येदोंनों क्यों ? केवल स्थवीय कहनेसे ही अत्यन्त का बोध होजाता फिर 'स्थवीय' प्रदका प्रयोग करना आपके व्याकरणविषयक अज्ञान कोही प्रकट करता है । यदि अत्यन्त ही लिखने का शोक था तौ फिर अत्यन्त स्थूल यही लिखते । अथवा केवल 'स्थवीय' पद लिखते । दोनों का प्रयोग करना, 'उक्तार्थानामप्रयोगः, इसभाष्योक्ति से असङ्गत है । यदि यह कहो कि अत्यन्त आवश्यकता जताने के लिये ही वैसा प्रयोग किया गया तौ भी ठीक क्यों कि उक्त प्रयोजन तो केवल एव शब्दके प्रयोग से ही सिद्ध होजाता । इसलिये उक्त दोष जैसा का तैसा ही रहा ।

३८-किं हेतुकमितिवक्तव्ये 'प्रकाशप्राचुर्यं किंविधमिति यज्जिज्ञासितं तत्तु नूनमनेन स्वीयं वैदग्ध्यमेव प्रदर्शितम्। महापण्डित ? प्रकाशप्राचुर्यं प्रकाशप्रकारकमेव भवितुमर्हतीति मातृमुखोऽपि जानाति। भगवत्सहस्ररश्मिसातिशयसान्निध्यजं हि प्रकाशप्राचुर्यं सम्भवत्येवेति विदुषां प्रत्यक्षमेव नास्त्यत्र तिरोहितन्नाम किञ्चित्।

३९-यच्चात्रोपयोगितानुपयोगितामवलम्ब्य किमपि प्रकरणातिरिक्तमुक्तं तदप्ययौक्तिकम्। निष्प्रयोजनत्वान्निराधारत्वाच्च। न हि निष्प्रयोजनं निराधारञ्चतत्त्वं विदुषामुपादेयमिति विराम एव श्रेयान्।

४०-यच्च 'य आत्मदा बलदा' इत्यादि मन्त्रमादाय 'आत्मशब्दस्य विद्याविज्ञानवाचित्वं कुतोऽधिगतं भवतेत्याशङ्कि तदप्यस्या-

---

३८—'किं हेतुकमिति' अर्थात् इसका क्या हेतु है यह लिखनेके स्थानमें 'किंविधं' प्रकाश प्राचुर्यम्" अर्थात् प्रकाश प्राचुर्य किसप्रकार है यह कहना पं० घनश्यामजी के प्रयोगपाण्डित्यका बोध कराता है। महापण्डित प्रकाश प्राचुर्य तो प्रकाशप्रकारक ही होसकता है वह किसी अन्यप्रकारक नहीं होसकता है।'यह बात मातृमुखबालकभी जानता है। और वह प्रकाश का प्राचुर्य (आधिक्य सूर्यकी अत्यन्त निकटताके कारण होना सम्भवभी है। इसमें आपको कुतूहल क्या हुआ।

३९—और जो 'उपयोगिता अनुपयोगिता को लेकर आपने कहा वह भी अप्रासङ्गिक होनेसे विचार योग्य नहीं। क्योंकि निष्प्रयोजन बातोंपर विचार करने को प्रवृत्त हाना विद्वानोंका काम नहीं। इसलिये यहां विराम ही श्रेयान् है।

४०—तथा 'य आत्मदा बलदा इत्यादिमन्त्रको लेकर जो आत्माशब्दके विद्या तथा विज्ञान ये अर्थ कहांसे लिये ? यह शङ्का की गयी है वहभी

नभिज्ञत्वाङ्कितमेव । वैदिकशब्दानां यौगिकार्थत्वस्य सर्वशिष्ट-सम्मतत्वात्। तथाहि 'अत सातत्यगमने' इति धातोरात्मशब्द-निष्पत्त्या गतेश्च ज्ञानगमनप्राप्तिलक्षणस्यार्थत्रयस्य सुप्रसिद्ध-तयात्मशब्दस्य विद्याविज्ञानवाचित्वे बाधकाभावाच्च ।

४१–किञ्च ' शरीरेन्द्रियप्राण्यात्ममनसां पुष्टयुत्साहपराक्रम-दृढत्वप्रद इति पुरस्कृत्य 'पुष्टिशब्देनैव यथाभिप्रेतसिद्धौ दृढ-त्वोपन्यासः किंप्रयोजनः इति यत्पण्डितप्रवरेण जिज्ञासितं तदपि तदनभिज्ञत्वद्योतकम् । पुष्टत्वदृढत्वयोर्भेदस्य सुप्रसिद्धत्वात् । पुष्टशब्देन मांसलत्वं मेदस्वित्वं दृढशब्देन पुनः शक्तिमत्वं घनगा-त्रत्वञ्च द्योत्यते । भवन्ति हि तुन्दिलाः श्रेष्ठिनो हृष्टाः पुष्टाश्च नच ते शक्तिशालिनो दृढाः । मल्लाश्च यद्यपि व्यायामादिना विभक्तघनगात्र-

---

अयौक्तिक है । क्यों कि वैदिक शब्दोंके सभी शिष्ट विद्वानोंके मतसे यौगिक अर्थ ही लगाये जाते हैं । आत्माके अर्थ भी योगिक ही लगाये हैं । देखिये, 'अत' सातत्यगमने' अर्थात् निरन्तर गमनार्थक 'अत' इस धातुसे आत्माशब्दकी सिद्धि होती है । गमनके तीन अर्थ, ज्ञान, गमन, तथा प्राप्ति ये सुप्रसिद्ध हीं हैं । फिर आत्माशब्दके विद्या तथा विज्ञान वाची होनेमें शङ्का करना नितान्त भ्रान्ति मूलक है ।

४१–किञ्च 'शरीरेन्द्रियप्राण्यात्ममनसां" इत्यादि लेकर आप फरमाते हैं केवल पुष्टि शब्दसे ही इष्ट सिद्धि हो जाती फिर दृढ़ शब्दका उल्लेख क्यों किया ? इससे भी यही मालूम होता है कि अभी पण्डित साहबने दृढ़ तथा पुष्ट शब्दके भेद कोभी नहीं समझा अन्यथा ऐसा कभी न कहते । अरे भाई पुष्टि और बात है तथा दृढ़ता अन्य बात है । पुष्ट शब्दसे मांसलत्व और मेदस्विताका बोध होता है अर्थात् सिर्फ मोटा ताज़ा तुन्दिल होना । दृढ़तासे शक्तिशालिता बलिष्ठता एवं घनगात्रताका बोध होता है । अन्यथा सेठ लोग बड़े २ तुन्दिल मोटे एवं हृष्ट पुष्ट होते हुएभी शक्तिशाली बलिष्ट क्यों न कहावें ? इस लिये नहीं कि वे केवल

तया, सन्तोऽपि दर्शने कृशा स्तथापि विशेषशक्तिजुषो भवन्ति। अत-स्तएवदृढशब्दभाजस्तदेष महान् विशेषोऽस्तिदृढत्वपुष्टत्वयोरिति।

४२ अन्यच्च देवशब्दस्य विद्वत्ववाचित्वमाशङ्क्य यदभाणि महा-भागेन तदपि न युक्तं शतपथब्राह्मणे 'विद्वाᳬँसो देवा' इति वच-नस्यैतत्तात्पर्येणैवोपन्यासात्।

४३ किञ्च 'मृत्युर्जन्ममरणकारक इत्यर्थमाश्रित्य यत्किमप्यभि-लपितं तदपि साहसमात्रमेव। मृत्यो-रेतादृशार्थस्यैव प्रसिद्धेः। तथाहि मरणं हि जन्मावलम्बि। नहि, ऋते जन्मनः कस्यचिन्मरणं श्रूयते। मरणञ्च जन्मार्थमेव प्रायशःप्राणिनां। तदेवमन्योन्याश्रयत्वादनयो-रेतत्सर्वं स्थान एव संघटते। वस्तुतस्तु उपचारधियैव मृत्योर्जन्म-

---

पुष्ट होते है किन्तु दृढ़ नहीं होते है। और मल्ल पहलवान लोग, व्यामा-दिसे विभक्त घनगात्रता होनेके कारण देखनमें यद्यपि कृश मालूम होते हैं तथापि विशेष शक्तिशाली होनेके कारण वे दृढ़ कहलाते है। इस प्रकार दृढ़ तथा पुष्ट शब्दोंके अर्थमें महान् भेद है।

४२—'देव शब्द विद्वान् वाची है' इस स्वामी जी के कथनपर भी जो आपने कहा कि देव शब्दके उक्त अर्थ ठीक नहीं! यह भी मान-नीय नहीं होसकता क्यों कि 'विद्वांसो हि देवा' इस प्रकार का बचन शतपथ ब्राह्मणमें स्पष्टरीतिसे मिलता है विद्वान् लोग ही देव होते हैं अविद्वान् नहीं! यह सभी समझ सकते हैं। किन्तु घनश्याम जीका इस पर भी आक्षेप है। क्यों न हो आपतो घनश्याम ही ठहरे!

४३—किञ्च 'मृत्युर्जन्ममरणकारकः' अर्थात् मृत्युजन्ममरणकारक है इस बात को लेकर आपने जो लिखा वह भी आपका साहस ही समझना चाहिये। क्यों कि ऐसे प्रयोग उपचार बुद्धिसे किये जाते है। मृत्यु जन्मके ऊपर अवलम्बित है क्यों कि जन्म हुए विना मृत्यु नहीं हो सकती मरण प्रायः जन्मके लिये हीं होता हैं यों कोई एक आंधी

मरणकर्तृत्वमुपपादितम् । तस्मान्नाऽत्र किञ्चिल्लवतोऽप्यसामञ्जस्यम् । इति दिक् ।

४४ यच्च " प्रथममन्त्रभाष्यावसरे " सर्वहुतः इतिवेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति " इति यदुक्तं तदपि न युक्तम् । विभक्तिविपरिणामेनापि ऋचामेव विशेषणेन भवितुं शक्यत्वात् " ? इति यदाह घनश्यामस्तदपि न तर्कोपपन्नम् । वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हतीति वाचोयुक्तिरेवात्र प्रमाणम् । भवतु नाम तदृचामपि विशेषणम् । किंतु वेदानां तत्त्वे किमस्ति बाधकं यद्बलेन ऋचामेव विशेषणेन भवितुं शक्यत्वादिति हेतुरेव बलीयान् भवेत् ? न पुनर्वेदानामपि ? तस्माद्बाधकविरहाच्चिन्त्यमेव भवतां वच इति निर्विकल्पम् ।

४५ किञ्च ' यज्ञो वै विष्णु ' रितिशतपथब्राह्मणमुपन्यस्य तदर्थानभिज्ञतैव प्रकटीकृता किं यज्ञशब्दोव्यापकार्थो यत्तदुपन्यास-

---

सौभाग्यवती व्यक्ति मुक्त हो जावे यह दूसरी बात है । इस प्रकार इन दोनों का अन्योन्याश्रय होना तो सिद्ध ही है । फिर जब मृत्यु जन्म के लिये होती है परम्परासे पुनः जन्म मरण के भी लिये होता है तो मृत्यु जन्ममरण कारक होती है ऐसा लिख देना कभी भी अयौक्तिक सिद्ध नहीं होसकता ।

४४—और ' प्रथम मन्त्र के भाष्यमें ' सर्व ' ' हुतः ' यह वेदोंका भी विशेषण होसकता है । इस स्वामीजीके कथनकोभी असङ्गत ठहराते हुए आप लिखते हैं कि विभक्ति विपरिणामसे भी ऋचाओंका ही विशेषण हो सकता हैं वेदोंका नहीं यह तर्क भी इनका कुतर्क ही हैं । कारण कि आप इसमें हेतु कोई नहीं दिखाते । जबतक कि कोई विशेष कारण न बतलाया जावे यह कैसे माना जा सकता है कि उक्त विशेषण ऋचाओंका ही हो सकता है वेदोंका नहीं ? इस लिये आपका उक्त कथन ठीक नहीं ?

४५—" यज्ञो वैविष्णुः " इस शतपथब्राह्मणका उद्धरणकरके स्वामीजीने अपना तदर्थ विषयक अज्ञानही प्रकट किया । क्या यज्ञशब्द

क्लेशः सोढः तत्र यज्ञे विष्णुत्वारोप एव तात्पर्यम् इत्यादिवाग्विलासोऽप्यस्य हासायैव। यज्ञशब्दस्य विष्णुपदस्यार्थमजानतैवानेन तथा व्यलेखि। तत्र स्पष्टमेव यज्ञो वै विष्णुः' इत्यस्योल्लेखात् ' इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् इति समुद्धरणाच्च, परमेश्वरपर एव विष्णुशब्द इति निरुपप्लवम्। यथाह्याचार्यप्रवृत्तिरपि 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत्सविष्णुः परमेश्वर इति।

४६ यत्तु यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम्। इतिवेदानामीश्वरकर्तृत्वमापादयन् यदाह तन्न विचारसहम्। ताल्वाद्यभिघातं विना तदुच्चारणासम्भवात्। इति यत्तदपि नितरां स्थवीयस्ताल्वाद्यभिघातं विनाऽपि

---

व्यापकार्थकहै जो आपेन उसके व्यापक अर्थ हैं ऐसा लिखने का कष्ट सहा। भगवन्। वहां " यज्ञमें विष्णुत्वका आरोप कियागयाहै यज्ञको विष्णु नहीं माना "। इत्यादि वाग्विलास भी इनके उपहास के लिये ही है। क्यों कि यज्ञशब्द के एवं विष्णुशब्दके अर्थों को न समझकर ही इन्होंने ऐसा किया है। वहां तो स्पष्टही स्वामीजी लिखते हैं। ' तस्मात् यज्ञात् ' इसमन्त्र में यज्ञशब्दके अर्थ परमात्माके हैं। अर्थात् उस परमात्मासे ऋग्वेदादि ४ वेदोंकी उत्पत्ति हुई। तथा इसकी सिद्धिके लिये प्रमाण देते हैं। ' यज्ञो वै विष्णुः ' ( शतपथ ) अर्थात् यज्ञकहते हैं विष्णु को तथा आगे चलक ' इदं विष्णुर्विचक्रमे ' इस प्रमाणसे विष्णु पद परमात्मा वाचक है यह सिद्ध किया। जो कि सर्वथा यौक्तिक है। किन्तु आप फ़रमाते हैं कि यज्ञशब्दके अर्थपरमात्मा के नहीं। तो आपही बताते कि यज्ञ शब्दके अर्थ परमात्मा के नहीं तो क्या अर्थ हैं। परन्तु आपका यह कुछ भी न दिखाकर केवल यज्ञशब्द विष्णुवाचक अथवा परमात्मा वाचक नहीं यह कहदेना कभी भी पर्याप्त नहीं हो सकता है।

४६–तथा–' जिस प्रकार मनमें विचार करते हुए प्रश्न तथा उत्तर आदि शब्दोंका उच्चारण होता है वैसे ही ईश्वरमें भी समझिये। इसप्र-

मनसि तदुच्चारणसम्भवात् । ताल्वाद्यभिघातं विनैव मानसोच्चारणासम्भवत्वस्वीकारे तुः—

" विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुःस्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ "

इत्यादिकं निखिलं स्मार्त्तं मानसजपविधानं व्याकुप्येत । तथाहि मानसपदं व्यावृण्वन्नाह कुल्लूकभट्ट महोदयोऽपि यत् " यत्र जिह्वौष्ठं मनागपि न चलति स मानस इति " तदेतावता सुतरां सिद्धं यत्ताल्वाद्यभिघातं विनाऽपि सम्भवति मानससमुच्चारणम् । तस्मात् भवतां तत्खण्डनप्रयासः संजातो विदुषां शेमुषीजुषां केवलं हासायैवेति किंबहुना पल्लवितेन ।

---

कार वेदोंके ईश्वरकर्तृत्वको सिद्धकरके कहा वहभी विचार चारु नहीं । क्योंकि तालु आदि अभिघातके विना शब्द उच्चारण का होना असम्भव है । इत्यादि कथनभी आपका बिल्कुल भ्रान्तिपूर्ण है । क्योंकि ताल्वादि अभिघातके विना भी मनमें उच्चारण हो सकता है ।

ताल्वादिके अभिघात के विना मानस उच्चारण सर्वथा असम्भव है यदि ऐसाही समझाजावे तो—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो–विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुस्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ मनु ॥

अर्थात् विधियज्ञसे जप यज्ञ दशगुना अधिक है उपांशु सौगुना और मानस जप सहस्रगुणाधिक है ऐसे सभी मानसजपके प्रतिपादन करनेवाले समस्तविधियां व्याकुल होंगे । तथाच ' मानस ' पदकी व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट महोदयने स्पष्टलिखा है ' जिसमें जिह्वा ओष्ट बिल्कुल भी न चलें वही मानस जप कहता है । यह आपका ऐसा कथन सर्वथा विद्वानों के लिये उपहास काही हेतु है ।

४७-ननु 'जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति......इत्यादि पूर्वपक्षीकृत्य यदुक्तं तद्वाचोयुक्तिरपि तर्करसिकैर्विवेचनीयेति यत्तत्प्रत्याचक्ष्महे महात्मन् ? तर्करसिकास्तु यदा विवेचनां करिष्यन्ति तदा तद्द्रक्ष्यामः किन्तु भवद्भिस्त्वधुनैव विविच्यतेकिन्न प्रकाश्यते चेदत्रास्ति काचिदनुपपत्ति र्विप्रतिपत्तिर्वा ?

४८-यच्चोक्तं 'वेदस्याध्ययनानन्तरमेव कस्यापि ग्रन्थरचने सामर्थ्यं स्यादित्यत्र जिज्ञास्यमिदं किं ग्रन्थरचने वेदाध्ययनं सामर्थ्याधायकं तदानन्तर्यं वेत्याकाङ्क्षायामुच्यते तदानन्तर्यम् । नच कालस्य स्वतन्त्रहेतुत्वाभावात् तत्तथाभवितुं शक्यमिति वाच्यम् ? केवलमानन्तर्यस्यानभिप्रेतत्वेन वेदाध्ययनानन्तर्यस्यैव तत्र स्वीकारात् । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" "अथातोधर्म्मं व्याख्यास्यामः" इत्यादि सूत्रेषु भाष्यकृद्भिस्तत्तत्प्रकरणानुसारिवस्त्वानन्तर्येणैव तत्र तत्र बहुशः समुपदिष्टत्वाच्च । नायं कश्चन नूतनः प्रयोगो महर्षि

---

४७-जगत्की रचना करनेमें ईश्वर के सिवाय किसी का सामर्थ्य नहीं । इसप्रकार का पूर्वपक्ष करके जो कहा है वहभी विद्वानों को विचारणीय है । अरे भाई विद्वान् लोग तो जब विचारेंगे तब सही किन्तु आपने जो विचारा है वह तो लिखते ? ताकि आपकी तर्कगम्भीरता तो प्रकट होती ?

४८-और आप 'वेदों के अध्ययन के अनन्तर ही किसीका ग्रन्थरचने में सामर्थ्य हो सकता है स्वामीजीके इस लेखपर जो यह पूछते हैं कि ग्रन्थरचनामें वेदाध्ययनही सामर्थ्य उत्पादक है अथवा वेदाध्ययन का आनन्तर्य ? इसका उत्तर हम यह देते हैं कि ग्रन्थरचना के प्रति आनन्तर्य हेतु है । यदि कहो कि आनन्तर्य तो कालका बोधक है और काल किसीका स्वतन्त्र हेतु नहीं हुआ करता । अतः आपका यह उत्तर ठीक नहीं । तो उसपर हमारा यह कथन है । केवल आनन्तर्यको हेतु किसने बताया है स्वामीजीने साफ लिखा है कि वेदाध्ययनानन्तर्य ही

दयानन्देनैव प्रयुक्तो यतो भवान् तथाविधः खिन्नात्मा सञ्जातः। महात्मन्! तावत् षड्दर्शनानां दर्शनं विधेहि ततस्तर्कस्तर्कणीयः। नेत्थमनल्पं कपोलकल्पनं किमपि सुफलाधायकमित्यध्यवसेयम्।

४९–किञ्च 'कस्यापि सामर्थ्यं स्यादित्यपि न रमणीयम् प्रतीतेरभावात् इति यदाह तदपि न यौक्तिकम्। असद्धेतुत्वात्। उक्तवचसोत्सर्गतो नियमविधानाच्चेति नात्र कश्चिद्विशेषविचिकित्साप्रसङ्गः।

५०–' शास्त्रं पठित्वा, उपदेशं श्रुत्वा, व्यवहारं दृष्ट्वा एव मनुष्याणां ज्ञानं भवति तत्रापि नोट्टङ्कनाविरहः। इति यदुट्टङ्कितं तदपि भवतामुट्टङ्कनमात्रमेव। पठतीत्यादीनां धातूनां भवत्यादिना सह

---

ग्रन्थ रचने में मनुष्य समर्थ हो सकता है। आनन्तर्य पदके लिये आप इतने क्यों चौंके? प्रायः सर्वत्र आचार्योंने इस शब्दका प्रयोग इसी अभिप्रायसे ही, किया है कि जिस प्रकार स्वामी जी महाराज ने किया है,। देखिये। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।" "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" इत्यादि सूत्रपर भाष्यकारों ने प्रकरणानुसार जिस प्रकार का समुचित समझा उसी प्रकारके आनन्तर्यका प्रयोग किया। यह ऋषि दयानन्दजी महाराजका कोई नवीन प्रयोग नहीं है जिससे आपने इतना खेद प्रकट किया। महात्मन्! जरा षड्दर्शनों के दर्शन तो करलिये होते तभी कुछ तर्क वितर्क करते?

४९–आपका यह कहना भी "कस्यापि सामर्थ्यं स्यात्" अर्थात् किसी का भी सामर्थ्य हो ठीक नहीं क्यों कि वैसी प्रतीतिके अभाव होनेसे"। यौक्तिक नहीं। क्यों कि इसमें आपने कोई हेतु नहीं दिया। वास्तवमें उक्त वचन द्वारा उत्सर्ग से नियम विधान किया गया है इसलिये इसमें विशेष शङ्काका अवकाश ही नहीं है।

५०–" शास्त्र को पढकर, उपदेश को सुनकर, व्यवहार को देखकर, ही मनुष्योंको ज्ञान होता है यह स्वामीका लेख भी उट्टङ्कना शङ्कासे खाली नहीं। क्योंकि " समानकर्तृकयोः पूर्वकाले." इस सूत्रसेक्त्वा

समानकर्तृत्वं न व्याहन्तुं पार्यते। य एव पठति स एव जानातीति सर्वसाधारणप्रत्ययगोचरो नियमः। तत्कथमिव तयोः समानकर्तृत्व-माक्षिप्यते ? सन्तिच तादृशा भूयांसः प्रयोगाः-प्रयुक्तचराः। प्रणि-भाल्यतां तावद्रमीरदृशा कठोपनिषदिः—

"एतच्छ्रुत्वा स परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। समो-दते मोदनीयं हि लब्ध्वा इत्यादि, अत्रतु स्पष्टमेव मर्त्य एतच्छ्रुत्वा प्रवृह्यधर्म्यं परिगृह्य, एतमणुमाप्य मोदनीयं लब्ध्वा मोदते अत्र श्रृणोत्यादिधातूनां मुदादिधातुना सह समानकर्तृत्वमस्तिन वा ? नास्ति चेत्कथमेतदुपनिषद्वचः संश्लिष्येत् ? नचायं प्रयोगो वैदिको लौकिकश्च जिज्ञास्य इतिवाच्यम् भगवताश्रीमच्छङ्करा-चार्येणापि तन्मुद्रयैव व्याख्याततत्वात्। महात्मन्। किन्न ज्ञातमि-

---

प्रत्ययका विधान किया है। अब आप बतावें कि जब मनुष्यही जिन का एक कर्त्ता है ऐसेपठ, श्रु आदि धातुओंका 'भवति' इस क्रियाके साथ समानकर्तृत्व कैसे हो सकता है यदि लोकमें कहीं भी ऐसे प्रयोग हों तो दिखलाइये ?" यहभी कथन पण्डित घनश्यामजी का विद्वान् लोगों का विचार के योग्य है। आप फरमाते हैं कि पठ, श्रु आदिधातु ओंका 'भवति' के साथ समान कर्तृता कैसे ? क्याही गम्भीर प्रश्न है ? बालकभी समझ सकता है कि यहां पर जो सुनता है जो पढ़ता है एवं जो व्यवहारको देखता है वही ज्ञानवान् होता है । स्पष्टतया समानकर्तृता है। अर्थात् इन सबका कर्त्ता एकही है किन्तु न जानें घनश्यामजी को क्योंकर असमानकर्तृता दृष्टिगोचर हो रही है। और दावेके साथ आप फ़रमाते है कि यदि ऐसे प्रयोग कहीं होते हों तो दिखाइये ? इसके उत्तर हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते है कि ऐसे प्रयोगोंसे साहित्य भरा पड़ा है। किन्तु देखनेके लिये आंख चाहिये। उदाहरण के तौर पर देखिये—कठोपनिषद् में "एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणु-मेतमाप्य" इत्यादि वचननें श्रु, आदि धातु ओंके साथ 'मुद' आदि

दानीमपि ऐदंयुगीनस्याचार्यस्य प्रचण्डपाण्डित्यवैभवम्? अथवा किमु पक्षपातहतदृशां भवादृशां युक्तमेव केनाप्युक्तम्। "लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति"

५१ पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः किन्तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः, इत्यत्रापि पुस्तकस्थानां वेदानां ज्ञानमध्ये प्रेरितानाञ्च वेदानामस्ति कश्चिद्विशेषस्तर्हि प्रतिपाद्यताम्। अत्रोच्यते। पुस्तकस्थवेदेन मन्त्रात्मकस्य हृदयप्रेरितेन वेदेनच ज्ञानात्मकस्य ग्रहणमितिदिशा भूयान् भेदोऽस्तीति प्रवक्तृहृदयगतम्

---

धातुओंकी समानकर्तृता है वा नहीं? यदि नहीं तो इस उपनिषद्के वचनकी रुङ्गति कैसे लगेगी? और यदि यह कहो कि यह प्रयोग तो आपने वैदिक दिया है हमने तो लौकिक प्रयोग पूछा था तो लीजिये इसके भाष्यमें भगवान शङ्कराचार्यने भी विल्कुल इसकी इसीरीतिसे व्याख्या की है। महात्मन्! क्या आपने इस युगके आचार्य के प्रचण्ड पाण्डित्यको अबभी समझा या नहीं? अथवा किसीने ठीक ही कहा कि "लोचनाभ्यां विहीनस्यदर्पणः किं करिष्यति" अर्थात् अन्धेके लिये दर्पण दिखाना किस काम का?"।

५१—'पुस्तकस्थ वेदोंको आदिमें उत्पन्न नहीं किया किन्तु प्रथमः ऋषियों के ज्ञानमें वेद दिये' इस स्वामीजी के कथनपर आप शङ्का करते है कि पुस्तकस्थ जुदा वेद है और ज्ञान में प्रेरित वेद जुदा? इन दोनों में क्या कुछ विशेष भेद है? श्रीमान् आपने अभिप्राय को न समझकर व्यर्थ ही प्रश्नाडम्बर रच दिया। यहां मतलब स्पष्ट है कि पुस्तकस्थ जो इससमय वर्तमान में (पुस्तकरूप में मिलते है) क्या ये ही ईश्वरने आदिमें उत्पन्न किये थे। या कोई अन्य। इस शङ्काको दूर करनेको जवाब दिया गया है कि पुस्तकस्थ वेद नहीं किन्तु प्रथम ऋषियों के ज्ञान में वेदकी प्रेरणा हुई थी। यही वक्ता का अभिप्राय है इस प्रकार उक्त दोनों में विशेषता स्पष्ट है।

५२ यच्च ' ईश्वरज्ञानरूपस्य वेदचतुष्टयस्य समवायसम्बन्धेन तत्रैव विद्यमानत्वादन्यत्र सङ्क्रमोऽतीवासम्भूत इति तत्तु बाललीलायितमेव । सूर्यादिसमवेतदाहस्य कान्तमण्यादौ सङ्क्रमस्य सर्वानुभविकतया तदुपपत्तेः । अयमभिसन्धिः । समवायसम्बन्धेन विद्यमानोऽपि सूर्ये दाहो मण्यादौ सङ्क्रान्त्या तत्तद्धर्म्मावगाहकतया यथा तत्स्वरूपमापद्यते तथैवात्राप्यध्यवसेयमिति निखलं निष्प्रत्यूहम्।

५३ किञ्च 'धर्म्मार्थकाममोक्षसिद्धौ यः परमानन्दः स किंस्वरूपः? अद्यावधि तु धर्म्मादयएव पुरुषार्थत्वेन प्रसिद्धाः श्रुताः परमद्युना तदनन्तरभावी परमानन्दोऽपि ततः पृथक्प्रदिष्टो विशालधिषणावता

---

५२—" वेद चतुष्टय चूंकि ईश्वरके ज्ञानस्वरुप ही है इस लिये वे समवाय सम्बन्धसे नित्य ईश्वर में ही रह सकते है । उनका अन्यत्र ऋषियोंके हृदयमें सङ्क्रमण नहीं हो सकता ? अतः यह कथन कि ईश्वरीय ज्ञान वेदकी ऋषियोंके हृदयमें प्रेरणा हुई नितान्त असम्भव है ? इत्यादि " हे तर्करसिक लोगों ? जरा आपके इस विलक्षण तर्ककी भी तो परख करो ! आप कहते हैं कि समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले गुणोंका अन्यत्र सङ्क्रमण ही होना असम्भव है । ज़रा घनश्याम जीसे पूछिये तो सही ! कि सूर्य्यादिमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले दाहादिगुणोंका अन्यत्र सूर्यकान्तादि मणियों में सङ्क्रमण होता है वा नहीं ? यदि नहीं तो वस्त्रादिमें आतिशीशीशेसे आग कैसे लगजाती है ? इसलिये जिस प्रकार समवाय सम्बन्धसे सूर्यादिमें रहनेवाले दाहादि गुण कान्तादिमणियोंमें सङ्क्रान्त हो जाते हैं वैसी यहांपर भी समझना चाहिये ।

५३— अथ धर्म्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष की सिद्धिमें जो परमानन्द है उसका क्या स्वरूप है । आज तक धर्म्मादिकहीको पुरुषार्थ समझा जाता था कि अब तदनन्तर होने वाले परमानन्दकी भी पृथक् गणना होने लगी इत्यादि लेखसे भी घनश्याम जीने अपनी तर्कचातुरी ही

तत्रभवतेत्यादिसन्दर्भेणापि घनश्यामः स्वीयं बुद्धिवैभवमेवोद्भावयति। भगवन्! दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्विका ब्रह्मानन्दावाप्तिर्हि मुक्तिः परिभाष्यते न केवलं धर्मार्थकामादिकम्। यत्र आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् नबिभेतिकुतश्चन इत्याद्याम्नातं भवति। यदिधर्म्मार्थादिकमेव मुक्तिः स्यात् तदतिरिक्तब्रह्मानन्दप्राप्तिश्च तत्र न स्यात् तर्हि जीवात्मनो भागीरथश्रमेणापि कृतं स्यात्? नहि पर्वतखननान्मूषकोपलब्धिः कस्यापि प्रज्ञावतस्तोषाय सम्भवति। अतः श्रीमद्घनश्यामशर्म्मणोऽयं प्रश्नो धर्म्माद्यनन्तरभावी परमानन्दःकिंस्वरूपः? इति विदुषां हास्यजनक एवेत्युदास्महे।

५४ किञ्च 'प्रेरयित्वा' इतिप्रयोगोप्यस्य व्याकरणबोधं निगमयतीति यत्तत्रोच्यते नाऽनेन श्रीमत्स्वामिचरणानां व्याकृतिबोधः प्रकटीक्रियते किन्तु श्रीमतामेवास्य प्रयोगस्यापाणनीयत्वं साधयताम्। अयि व्याकरणकेसरिन्! शृणु। प्रेरणं प्रेर इतिभावे घञिकृते,

---

जतायी है" भाई यह सब जानते हैं कि दुःखोंसे अत्यन्त निवृत्ति पूर्वक परमानन्द प्राप्ति ही परमपुरषार्थ है ऐसा सांख्यादिशास्त्रोंमें बताया गया है 'धर्मादिक तो केवल साधन हैं इनके द्वारा पुरुषार्थसिद्धि होती हैं न कि ये स्वयं पुरुषार्थ हैं। परुषार्थ तो परमानन्दही हुआ इसलिये 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यादिसे भी यही सिद्ध है और फिर यदि धर्मादि द्वारा मोक्ष अथवा दुःखात्यन्त निवृत्ति ही पुरुषार्थ हो और परमानन्द ( ब्रह्म प्राप्ति ) नहो तो फिर मुक्ति प्राप्तकरने के लिये भगीरथ श्रमकी क्या आवश्यकता? पर्वत खोदनेसे क्या लाभ यदि अन्तमें चूहा ही निकले! इसलिये आपका उक्त प्रश्न विद्वानों के लिये केवल उपहास जनक ही हुआ।

५४—' और 'प्रेरयित्वा' इस प्रयोगसे तो स्वामी जो को व्याकरणबोध कितना था इसका बोध होता है। क्यों कि 'प्रेरयित्वा' यह प्रयोग बनही नहीं सकता यहांपर 'ल्यप्' प्रत्यय होकर 'प्रेर्य्य' ऐसा बनेगा।

प्रेरं करोति प्रेरयति, तस्मान्नामधातोःक्त्वा प्रत्ययेकृते प्रेरयित्वेतिरूपं सिद्धम्। कोनामाऽधुनास्य प्रयोगस्य पाणिनीयत्वमपवदितुं पारयेत्! व्याकरणभूषणाद्घनश्यामादृते।

५५-यत्तु 'यत्सत्यं प्रमाणमाप्तोपदिष्टमेतिह्यं तद् ग्राह्यम्। इत्यत्र सत्यप्रमाणमित्यस्य कोऽर्थः! सत्यं प्रमाणमस्मिंस्तत्सत्यप्रमाणं यद्वा सत्यञ्च तत्प्रमाणमिति सत्यप्रमाणम्? एतद्द्वयमपि न सङ्गतम्। प्रमाणेऽसत्यत्वशङ्कानुत्पत्तेः) इति यत्तदपि केवलमस्य विशेषदूषणप्रदानव्यसनविलसितमेव। अत्र हि प्रमाणस्य सत्यमिति विशेषणप्रदानस्य केवलंतदव्यभिचारित्ववारणार्थकत्वेन सार्थक्यात्। न हि कस्यैतदाश्चर्यास्पदं भविष्यति यदेवंविधां क्षुद्रातिक्षुद्रां दूषणमुद्रामेवादाय महर्षेः सारगर्भममूल्यसन्दर्भंवृथोट्टङ्कनयाकलङ्कयितु-

---

इससे पता लगता कि दयानन्दजीको व्याकरणका बोध नहीं था यदि होता वे ऐसे अशुद्ध प्रयोग कभी न करते इत्यादिकथनसे घनश्यामजी ही की व्याकरणानभिज्ञता प्रकट होती है। स्वामीजी की नहीं। कारण यदि घनश्यामजी व्याकरण के साङ्गोपाङ्गरहस्य समझते तो कभी भी इस प्रयोगको अशुद्ध न बताते। क्यों कि यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टिसे बिल्कुल शुद्ध है। कहो कैसे? तो सुनिये प्रपूर्वक 'ईर' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेपर प्रथम 'प्रेरणं प्रेरः' प्रेर शब्द बनाया फिर नामधातु-( प्रेरं करोति प्रेरयति ) प्रेरयति बनाया पुनः इस नामधातुसे क्त्वा प्रत्यय होनेपर राजमार्ग से ही प्रेरयित्वा यह रूप सिद्ध है। यहां 'ल्यप्' का अवकाश कहां? महात्माजी आपही बताइये कि यहां ऋषिकी भ्रान्ति सिद्धि हुई या आपकी व्याकरणबोधशून्यता? घनश्यामजी को छोड़कर अन्य कोन इसप्रयोग को अपाणिनीय सिद्ध कर सकता है?

५५–जो सत्यप्रमाणयुक्त आप्तोपदिष्ट इतिहास है उसीका ग्रहण करना चाहिये अन्यका नहीं। इस स्वामीजी के लेखपर आपका कथन है। कि इस वाक्यमें जो सत्यप्रमाण यह पददिया है

कामोऽयं घनश्यामोमात्रयाऽपिनापत्रपते ! किञ्चसमवलोकयन्तु काव्यरसिकाः साहसिकस्य क्षणमस्य विचक्षणस्य सरसललितवाङ्माधुर्यसुधाभरं काव्यनिर्झरम् !

" पदे पदे प्रस्खलनं जिहानो-विरुद्धहेतुव्रजसाधनोऽसौ ।

प्रमत्तगीतानितर प्रयुक्तिं वदन्नलज्जामुपयाति हन्त । ' अधीतशास्त्रैरपिसूर्यवर्य्यै-र्वेदोक्तसम्पद्धातिदत्ताचित्तः ॥ युक्तिप्रमाणै रथवादकामैर्विवादमिच्छन् किमुनैष वाच्यः " ॥ अहो । कीदृशोऽलौकिकोऽयं पदविन्यासः । नूनमनेन त्वधरीकृता सर्वेऽपि भासकालिदासादयः कवीश्वराः । प्रस्खलनं सम्पद्धतिदत्तचित्तः, हेतुव्रजसाधनः, नूनं धन्येयं पदविन्यासचातुरी । एभिः प्रयोगैस्त्वनेन मन्ये हर्षो प्यपकार्षितः ! हाहन्त ! देवि ! कविते !

---

तो क्या प्रमाण असत्य भी होते हैं जो सत्य यह विशेषण दिया ? इसके लिये हम क्या कहें ? बच्चे भी समझ सकते हैं सत्य पद इसलिये दिया जिससे असत्य अथवा व्यभिचरित प्रमाण का व्यवच्छेद हो जाय। किन्तु घनश्याम जीके यह भी समझ में नहीं आता तो क्या किया जाय ? बड़े आश्चर्य की बात है कि ऋषिके अमूल्य सारगर्भ सन्दर्भ ( ग्रन्थ ) को इन क्षुद्र आशङ्काओंसे कलङ्कित करने की चेष्टा करते हुए ज़रा भी नहीं शरमाते !

और अपनी काव्यचातुरी भी साथ साथ दिखाते जाते हैं । रसिकजन आपकी कुछ कविता चातुरीभी तो देखें ? और जरा ललितवाङ्माधुर्यसुधा भरित काव्य निझरके रस को तो चक्खें ।

" पदे पदे प्रस्खलन " इत्यादि श्लोकों ( संस्कृतमें पूरे दिये गये हैं ) में क्या ही अद्भुत पद विन्यास, विलक्ष काव्यछटा है । क्यों नहो घनश्यामजी ! आप की कविता की बलिहारी है । आप, चाहे जो कुछ हो, कितनी ही भरती करनी पड़े । दावे के साथ छन्द को पूरा करते हैं मालूम होता है कि प्र, परादि जितने उपसर्ग हैं वे सब आचार्यों ने घनश्यामजी के लिये ही बनाये है । तभी तो आपने उपसर्गोंकी श्लोकोंमें

नूनं दैन्यमुपगतासि हा ! कष्टम् ! यदेताहशां शब्दलोहमुष्टिजुषां फुक्कटमिश्राणां हस्ते निपतितासि। तपस्विनि ! नूनं नियतिर लङ्घनीया । उच्चैरमन्दमाक्रन्द । निन्द च निजमन्दभागधेयम्। यन्नास्ति कश्चन क्षत्रियकुलावतंसो भोजसदृशो राजहंसः। योह्य-धिकार्यनधिकारिविवेकं विदध्यात्। दण्ड्यांश्च दण्डयेददण्ड्यांश्च मण्डयेन्नानोपाधिमणिविभूषणैः। घनश्याम ? भगवत्या कविता-देव्या तव किमनिष्टमापादितम् ? यद्भवतेयं वराकी, दयस्व दय-स्वेति मुहुर्मुहुराक्रन्दन्ती, सकरोत्क्षेपमन्याय्यमन्याय्यम् , अब्र-ह्मण्यमब्रह्मण्यमित्युद्घोषयन्त्यपि जघन्यतया व्याहन्यते ! नूनं लज्जास्पद मेतत्।

---

भर मारकर रक्खी है मालूम होताहै सम्पूर्ण उपसर्गावलिको आपने रिजर्व फोर्स बनारक्खा हैं। जहां काम चलता दिखाई न दिया स्पेशल आर्डर दिया कि रिजर्व फोर्स से इनस्थानों पूर्ण किया जाय ! अन्यथा—' प्र-स्खलनम् '. 'सम्पद्धृति' हेतुवज्रसाघन, एसे विलक्षण प्रयोग कैसे लिखे जाते ? क्या ही अच्छा पदविन्यास है। ऐसे पदोंका प्रयोग करके अपने हर्ष को अपकर्षित करदिया । हाहन्त ! कविते देवि कैसी दीनता को प्राप्त हो गयी ! हा कष्टम्। ऐसे शब्दरूपी लोहमुष्टि वाले फुंकुट मिश्रों के हाथोंमें क्यों फंसी ! तपस्वनी ? भावितव्या अलंघनीया है । रो और जोरसे क्रन्दनकर अपने मन्द भाग्यको ! आज कोई क्षत्रियकलावतंस भोज जैसा राजहंस न हुआ जो अधिकारी तथा अनधिकारी की परीक्षा करता ? दण्डनीयोंको दण्डदेता और पुरस्कारके पात्रोंको मणिमौक्तिसे विभूषित करता? घनश्यामजी ! हम आपसे ही पूछते हैं कि आपका भगवती कविता देवीने क्या बिगाड़ा है जो आप इतने निर्दय होकर उसके पीछे पड़े हो ? वह, अन्याय्य है, अब्रह्मण्य अब्रह्मण्य ऐसा चिल्लाती जाती है और आप अपनी चोटें बराबर देते चले जारहे हों ? बड़ी शर्म की बात है ! धिक्। अच्छा जाने दीजिये कवित्वकलाको ! ज़रा व्याकरण बोध ही इनका देखिये ?

५६-किञ्च "प्रमत्तगीतान्" इति गीतशब्दस्य पुंस्त्वं प्रतिपादयन्नयं कथन्नाम न वैय्याकरणकुक्कुटोपाधिना विभूष्यःस्यादित्यनुयोक्तव्योऽयंधीधनः ?

५७ " नवीननिर्मितपुराणग्रन्थानामिति मध्यमपदलोपी " ति चेन्न ! अभिनवकर्तृकृतवस्तुनः पुराणत्वाभिधायित्वासम्भवात् ! " इति घनश्यामस्य तर्कच्छटापि विद्वद्भिर्विवेचनीया । महात्मन् पुराणेति संज्ञामुद्दिश्य महर्षिणा तथोल्लिखितम् । अभिनवकृत वस्तुनः पुराणत्वाभिधानन्तु श्रीमतां पक्षस्य बाधकं न कर्हिचिदस्माकम् ? ' पुरा नवीनं भवतीति तद्व्युत्पत्या कथमपि तेषां पुराणसंज्ञा न युज्यते । नहि जात्वभिनववस्तुनः पुराणत्वाभिधानं योगार्थमनुगृह्य सम्भवि । तस्माद्रूढिमादायैव तादृशोपन्यासप्रयासः एवं सति महर्षे स्तादृशः सन्दर्भो हेतुगर्भ एवेति दिक् ।

---

५६—आपने 'प्रमत्तगीतान्' गीत शब्दको पुल्लिंङ्ग बनाया है । क्यों न हो घनश्यामजी ठहरे ! लिङ्ग ज्ञान से आपको क्या मतलब ! किन्तु ऐसे साहसिक प्रयोगोंके लिये इनको वैय्याकरणकुक्कुट की उपाधिसे क्यों न विभूषित कियाजावे ज़रा इनसे पूछिये तो सही ?

५७—' नवीननिर्मितपुराणग्रन्थ ' इसमें मध्यमपदलोपी समास यदि माना जावे तो ठीक नहीं । क्यों कि नवीन वस्तुको पुराना बताना यह बात कैसे ठीक हो सकती है । " यह भी आपका कथन भ्रम पूर्ण ही है । क्यों कि यहां ' पुराण ' यह शब्द संज्ञाको लक्ष्य में रखकर लिखा गया है । और नवीनवस्तुको पुराना कहना आपके पक्षका बाधक है हमारे का नहीं । यदि यह कहो कि नवीन वस्तुको पुराना कैसे कहा जाय? तो ठीक नहीं क्योंकि स्वामीजी महाराजने रूढिको मानकर ऐसा लिखा है । योग को नहीं । चूंकि वे लोकमें पुराणनामसें प्रसिद्ध हैं इसलिंये उनकी पुराण संज्ञा लिखी गयी है वैसे तो वे नवीन ही हैं । इस लिये हमारे पक्षमें इससे कोई बाधा नहीं आती ।

५८ अन्यच्च " योमन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतोनस्यात् । इत्यादिकं यत्समाहितवान् तदप्यतीवापेशलम् । अनेकदोषपरीतपदकदम्बकप्रायत्वादिति । तद्यथा तद्रचितमिति नपुंसकप्रयुक्तिर्नोचिता तच्छब्दपरामृष्टस्य वेदशब्दस्य पुंस्त्वात् । इति क्षणं तर्कचणैर्विचक्षणैरेवास्यावबोधगाम्भीर्यमनुमीयताम् । अत्रतु स्पष्टं मन्त्रसूक्तानां य ऋषिर्लिखित स्तेनैव तन्मन्त्रसूक्तं रचित मिति तच्छब्देन परामृश्यते सुव्यक्तमेव तच्छब्दपरामृष्टं मन्त्रसूक्त-मिति पदञ्च तत्सान्निध्यमनुगृह्णाति । तथा सत्यपि घनश्यामेन न जाने कुतस्तदा वेदशब्दः परामृश्यत इति किञ्चिद्' विद्वांस एव विभावयन्तुतराम् ।

५९-यच्च-' वेदेषु विद्वांसो भवन्ति सर्वे ' इति पदं समीक्ष्य किमप्यलौकिकं कौतुकं प्रकटितं तदपि नितरामस्य बालचा-पल्यकल्पितमेव । कुतः ? उच्यते । वेदविषये विद्वांसो भवन्तीति । वक्तुस्तात्पर्यात् । महात्मन् कोनाम न विजानाति यद्विद्यालयेषु

---

५८—" यो मन्त्रसूक्तानामिति " इत्यादि को लेकर जो आपने कहा कि यह ठीक नहीं क्योंकि इसमें अनेक दोष आते हैं । जैसे एक दोष तो यही ' तद्रचितम् ' इस पदमें नपुंसक लिङ्गका प्रयोग किया किन्तु होना चाहिए पुंल्लिङ्ग का क्योंकि तत् पद वेदका परामर्शक है । इत्यादि इनकी इस तर्क कोभी विद्वान् लोग विचारें । यहां तो स्पष्टही जिसने जो मन्त्र सूक्त रचा उसका वह ऋषि लिखा है । ' तत् ' से ' मन्त्रसूक्तम् ' इसका परामर्श होता है । इसलिये यह कोई दोष नहीं ।

५९—और आपने ' वेदेषु विद्वांसो भवन्ति ' अर्थात् वेदोंमें विद्वान् होते हैं इस पदको देखकर जो अलौकिक कुतूहल प्रकट किया है वह भी बाललीला कल्पित ही है । क्योंकि उक्तकथनसे वक्ता का तात्पर्य वेद-विषयमें विद्वान् होनेसे है । और इस बातको कौन नहीं जानता कि विद्यालयोंमें पढ़कर लोग विद्वान् होते हैं किस विषयके विद्वान् ? इस

गुरुसकाशाद्विद्यामधीत्य विद्वांसोभवन्तीति परं कस्मिन् विषये ? इति विचिकित्सायां गणिते, विज्ञाने, साहित्ये, दर्शन इत्यादिविशिष्टोत्तरन्तु विषयसप्तमीमवलम्ब्यैव सम्भवतीति सर्वेषामानुभाविकम् । तदत्रास्य तादृशकौतुकोद्गलनं किं फलकामिति सुधियः स्वयमेव प्रणिभालयन्तु ।

६०–यच्च "कुतो निरवयवादीश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात् । अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः । मनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण वेदः (श्रुतिः)प्रकाशीकृतः । इति यच्छ्रवणार्थाच्छ्रूधातोः करणकारके श्रुतिशब्दं व्युत्पाद्य युक्तिप्रमाणनिकरसहितं प्रत्यपादयत्तदपि विदितशास्त्रसारेण बुधवारेण दृष्टिगोचरतामानीय विवेचनीयमिति" यद् भूयो जजल्प तदपि बाल्यकल्पमेव । यतो न

---

प्रश्नके उपस्थित होनेपर गणितमें, विज्ञानमें, साहित्यमें, दर्शनमें इत्यादि सप्तम्यन्त उत्तर केवल विषयसप्तमीका ही अवलम्बन करके दिये जाते हैं । फिर 'वेदोंमें विद्वान् होते हैं' इस पदको देखकर आपको इतना कुतूहल क्यों हुआ ?

६०—'निरवयवादिति" अर्थात् निरवयव ईश्वरसे ही वेदोंकी उत्पत्ति होनेसे ! अग्नि, वायु, आदित्य, तथा अङ्गिरा ऋषि तो वेदप्रकाशनमें केवल निमित्तभूत हैं यह समझना चाहिये । क्यों कि उनके ज्ञान द्वारा वेदोंकी उत्पत्ति हुई है अभिप्राय यह है कि मनुष्य देहधारि जीवद्वारा ही परमेश्वरने वेद अर्थात् श्रुतिका प्रकाश किया है । इस लिये ही वेदका नाम श्रुति पड़ा है" इत्यादि ऋषिके कथनको उद्धृत करके पण्डित घनश्यामजी 'इस लेख परभी विद्वान् लोग ध्यान दें' इतना ही लिखकर आगे चल दिये । किन्तु कोई हेतु अथवा तर्क नहीं दिया कि इस हेतुसे उक्तलेख असङ्गत है । तो हम इसके विषयमें कुछ अधिक न लिखकर इतनाही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि यहां तो घनश्यामजी पर

तत्र कश्चिद्धेतुस्तर्को वा प्रदर्शितः। तदत्र 'जिह्वास्तीति दशहस्ताहरीतिकी''तिन्यायमेवानुहरति न ततो किञ्चिद्यातिरिच्यत इति वयमप्युदास्महे।

---

## अथ वेदनित्यत्वविषयः।

६१-"ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वा" दित्यत्र सकाशात् स्वतश्चेत्येतत्पदद्वयस्याधिक्यमनन्वितार्थकत्वञ्च प्रतिपादयता घनश्यामेन केवलं बालचापल्यमेव प्रदर्शितम्। प्रयोगप्रकाराणां वैविध्यात्। तत्तत्प्रकारस्य च प्रयोक्तृतन्त्रत्वात्।

६२-किञ्च वेदं पक्षीकृत्य यत्तस्य नित्यत्वमीश्वरीयसर्वसामर्थ्यगतनित्यत्वहेतुना साध्यते भवता तन्नोपपन्नम्। हेतोः पक्षेऽ

---

'जिह्वास्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' यहां कहावत चस्पां होती है अर्थात् जिह्वा है तो फिर यह कहनेमें कि हरड़ १० हाथकी होती है कोई जबानको थोड़ाही रोक सकता हैं? जो मनमें आया कहडाला जबानको लगाम किसने लगाई है?

---

### * अथ वेदनित्यत्व विषय *

६१—'ईश्वरस्य सकाशादिति' इसवाक्यमें आपका यह कथन कि 'सकाशात्' और 'स्वतः' ये दोनों पद स्वामीजीने अधिक हीं रक्खे। और इनका अन्वयभी ठीक नहीं लगता। यह कथनभी व्यर्थ ही है क्यों कि प्रयोगशैली हरेक की पृथक् पृथक् होती है। जो प्रयोग करनेवाले के ही स्वाधीन होती है। जो जैसा चाहे प्रयोग कर—सकता है। फिर इसमें क्या दोष रहा?

६२—किञ्च "वेद को पक्ष बनाकर जो उस नित्य ईश्वरीय सामर्थ्यसे, इस हेतुसे वेदका नित्यत्व सिद्ध करना चाहते हैं। वह भी ठीक

भावेन स्वरूपासिद्धिप्रसंगात् इति यत्तदपि न निर्विप्लवम् । ताद्दशासिद्धिप्रसङ्गस्यात्र सर्वथाऽनवकाशात् । हेत्वभाववत्पक्षत्वं हि स्वरूपासिद्धेर्लक्षणं तच्चात्र न कथञ्चिदपि संश्लिष्यते । कुतः ? उच्यते । वेदो नित्यः ईश्वरीयसामर्थ्यगतत्वात् यद्यदीश्वरीयसामर्थ्यगतं तत्तन्नित्यम् । एवं सति क्वास्त्यत्र पक्षे हेतोरभावः ? महात्मन्! जिह्वास्तीतिवक्तव्यं दशहस्ता हरीतकीति वादमनुहरतैवोच्यते किमपि वा विचार्य समालोच्यते । तदेतावता विज्ञातमविज्ञातमेवेदानीं यावत् श्रीमतां स्वरूपासिद्धेर्लक्षणमपि । 'स्वयमसिद्धः परान् साधयितुकामो नूनं भवान् घनश्याम एवेति मन्ये।

६३-यच्च कार्यत्वहेतुना शब्दानामनित्यत्वं प्रतिपादयता तन्नित्यत्वसाधकं युक्तिजातं निराकुर्वतोद्घुष्टन्तदपि न निर्दुष्टम् निःस्सारत्वा-

---

नहीं क्यों कि ऐसा करनपर स्वरूपासिद्धि दोष आता है । कारण कि यहां पक्ष में हेतुका अभाव है । और जहां पक्षमें हेतुका अभाव हुआ करता वहां हेतुके स्वरूपासिद्ध हो जानेसे स्वरूपासिद्ध होजाता है, जोकि प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता" । घनश्यामजीका यह कथन भी दोषयुक्त है । क्योंकि यहां स्वरूपासिद्ध दोष नहीं लग सकता । हेतुका अभाव हो जिस पक्षमें उसीको तो स्वरूपासिद्धि कहते हैं न ? तो यहांपर पक्षमें हेतु का अभाव कहां है महात्मन् ? तार्किक लोगभी जरा तर्कशिरोमणि जीके तर्कपर ध्यान दें । वेद नित्य हैं, ईश्वरीय सामर्थ्यगत होने से । चूकिं जो ईश्वरीय सामर्थ्यगत होता है वह नित्य होता है तो वैसा होनेसे वेदभी नित्य हैं । बतलाइये इसमें हेत्वभाववान् पक्ष कहां है ? कुछ सोच विचार करही समालोचना की है या वैसे ही अन्धाधुन्द करडाली । मालूम होता है अभीतक आपने स्वरूपासिद्धि के लक्षणभी नहीं समझें अन्यथा ऐसा अज्ञान पूर्ण लेख लिखने का कभी साहस न करते । 'स्वयमसिद्धःपरान् साधयति' की कहावत इनपर बिल्कुल चरितार्थ होती है ।

६३—और 'कार्यत्व' इस हेतुसे शब्दों का अनित्यत्वका प्रतिपादन करते हुए शब्दों की नित्यत्व साधक युक्ति के खण्डनमें घनश्यामजी

द्यनेकदोषजुष्टत्वात् । महर्षिप्रतिपादितार्थस्य तादवस्थ्येनैव संश्लिष्टत्वाच्च । तथाहि ' यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे आदिरहिते तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति तद्विद्यामयत्वाद्वेदानामनित्यत्वं नैव घटत ' इति दिक् नास्त्यत्र कश्चन संशयावकाशः ।

६४-किञ्च ' परमात्मज्ञानस्था इति कथनमपि न साम्प्रतं गोतमादिमते शब्दानामाकाशसमवेतत्वात् " इत्यपि न मानास्पदम् । परम्परया भगवति परमात्मन्येव तत्वतः तत्समवेतत्वस्य सुघटत्वात् । नहि गगने यत्समवेतं तत्परब्रह्मणि नेति केनापि वक्तुं समुत्सह्यते तदिदमपि कथनं श्रीमतां गगनोन्मथनमात्रमेव ।

एतावतैव " नच विषयतासम्बन्धेन परमात्मज्ञानसम्बन्धित्वमेव

---

ने जो घोषण दी है वह भी निर्दोष नहीं हैं । निःस्सारत्व आदि अनेक दोषों से युक्त होनेसे । और महर्षिप्रतिपादितार्थके यथार्थरीतिसे ठीक होनेसे । क्यों कि स्वामीजी साफ लिखते हैः ' जिसकी ज्ञान क्रिया स्वाभाविक, नित्य, आदिरहित हैं उसका सामर्थ्य भी नित्य ही हो सकता है । चूंकि उसका ज्ञानभी उसके सामर्थ्यांतर्ही है इसी लिये वह भी नित्य ही होसकता है अनित्य नहीं । इस प्रकार इस लेखमें कुछभी संशयका स्थान नहीं है ।

६४—और वेद परमात्माके ज्ञानमें स्थित है, यह कथन भी ऋषिका ठीक नहीं । क्यों कि गोतमादिके मत से शब्द आकाशमें समवेत होनेसे आकाश में ही स्थित होसकते है " इत्यादिकथनभी घनश्यामजी का माननीय नहीं है । क्योंकि वास्तवमें परम्परासे शब्द भी परमात्मा में समवेत हैं । क्यों कि जो गगनमें समवेत है व परमेश्वरमें नहीं ऐसा कौन ज्ञानी कह सकता है । और यहां तो ज्ञान का जिक्र है कि परमात्माके ज्ञान में वद स्थित है । इसलिये यह कथनभी आप का केवल गगनमन्थन के समान ही है । इसी से ' विषयता सम्बन्धसे परमात्मा के ज्ञानसे ही सम्बद्ध है । इसीसे परमात्माके ज्ञान में हैं, परमेश्वर

तेषां तत्स्थत्वं, तदीयज्ञानस्य सर्वविषयकत्वा " दित्यपि निराकृतं वेदितव्यम् ।

६५-किञ्च वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्तीत्यादिग्रन्थेन वक्ष्यमाणभाष्यव्याख्यानभूतस्वपरग्रन्थविरुद्धत्वप्रतिपादनमपि भवतामाकिञ्चित्करम् । तादृशभाष्यस्यानुद्धरणात् ।

६६-तत्र नित्य इत्यनेनैव गतार्थत्वे 'स्वभावसिद्ध, इति ' अनादीतिच व्यर्थमिति तु पूर्वमेव दत्तोत्तरं,तन्नात्रपुनश्चर्वितचर्वणं रमणीयम् ।

६७-किञ्च ' न तस्यकार्यमित्यादिश्रुत्या ईश्वरीयज्ञानक्रिययोर्नित्यत्वं प्रतिपादयति भवान्, नित्ययोश्चैतयोः शक्तित्वं दर्शयति भगवतीश्रुतिरित्यादिकथनमपि नितान्तमसङ्गतम् । कुतः ? यतो ज्ञानक्रिययोः स्वाभाविकत्वेन नित्यत्वमेवोपोद्बलयति भगवत्युप-

---

के ज्ञान के सर्वविषयक होने से ' इत्यादि तर्क का भी खण्डन हुआ समझना चाहिये ।

६५—वैदिक और लौकिक सभी शब्द नित्य हैं इत्यादि कथनसे आगे के भाष्य में स्वपरग्रन्थविरोधका दिखाना भी आपका ठीक नहीं है । क्यों कि आपने ऐसे परस्परविरोधी भाष्यका उद्धरण नहीं किया है । कि अमुक भाष्यमें विरोध है । यदि आप दिखाते तो हम भी उसका समाधान करते !

६६—' नित्य ' इससे ही काम चलजाता स्वभावसिद्ध, अनादि ये दोनों विशेषण व्यर्थ है, इसका उत्तर तो पूर्व ही दे चुके है । फिर चर्वित चर्वण करनेसे क्या फायदा ?

६७—' नतस्य कार्यमित्यादि ' श्रुति ( उपनिषद्वचन ) मैं तो ईश्वरीय ज्ञान एवं क्रिया की शक्ति का वर्णन है किन्तु आप उसीसे ज्ञान तथा क्रियाके नित्यत्वका प्रतिपादन—करते हैं । इत्यादि कथनभी श्रीमान् घनश्याम जीका असङ्गत है । क्यों कि इसमें तो स्पष्ट ' स्वाभाविकी

निषत् न पुनस्तयोः शक्तित्वमिति दिक्। उक्तस्थले 'न तस्येत्यादि' उपनिषद्वचनस्य श्रुतित्वाभिधानमपि चिन्त्यम्।

६८-किञ्च 'किञ्च भोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते? अत्रोच्यते-'इदन्तु पुस्तकपत्रमसिपदार्थादिषु घटते तथाऽस्मत्क्रियापक्षे। नेतरस्मिन्, अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन नित्यत्वं वयं मन्यामहे। किञ्च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात्। यथाऽस्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च। कुतः? ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च। अत एवोक्तमृग्वेदे-'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति अस्यायमर्थः-सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं। यथा पूर्वकल्पे चन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये

---

ज्ञानबलक्रियाच" अर्थात् ईश्वर की ज्ञानबलक्रिया स्वाभाविक हैं नित्य हैं। शक्तिका स्वप्न आपने कैसे देखा? और आपने जो उपनिषद्वचन को श्रुति शब्दसे विभूषित किया यहभी चिन्तनीय है।

६८-जब सब जगत् के परमाणु पृथक् पृथक् हो जाने के कारण कारणरूप हो जाते हैं तब जो कार्य रूप स्थूल जगत् है। उसका अभाव हो जाता है तब वेदोंके पुस्तकोंका भी अभाव हो जाता है फिर वे दों को नित्य क्यों मानते हो? उ० यह बात पुस्तकपत्रमसी और अक्षरोंकी कृतिमें घटती है तथा हम लोगोंके क्रिया पक्षमें भी बन सकती है किन्तु वेद पक्षमें नहीं बन सकती क्यों कि वेदतो शब्द अर्थ और सम्बन्ध स्वरूपही हैं। मसी, कागज पुस्तक व अक्षरों की बनावट रूप नहीं हैं। यह जो मसी लेखनादि कृति है सो मनुष्यों की बनाई हुई है इससे ये अनित्य हैं, और ईश्वरके ज्ञान में सदा बने रहने वाले वेद अनित्य नहीं माने जा सकते। इससे यही सिद्ध हुआ कि पढने पढ़ाने अथवा पुस्तकों के अनित्य होने से

स्यासीत् तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि कृतमस्तीति विज्ञायते कुतः ? ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम् । वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् " इत्यादिना पूर्वपक्षपुरस्सर-समाधानरूपग्रन्थेन यदुक्तं विशेषमतिना भिक्षुपतिना तन्नाति-मनोज्ञम् । अस्थाने युक्तिबाहुल्यात् " इति यत्तदपि वचन्न साम्प्रतं मन्तुं नितान्तमीश्महे निष्प्रयोजनत्वात् ।

६९–पूर्वपक्षे तावत् ' सर्वस्य जगत ' इति द्वयोरेकतरेणैव भाव्य-मेकार्थप्रतिपादकत्वात्तयोरित्यपि निरर्गलम् । सर्वजगच्छब्दयो-रेकार्थवाचित्वे मानाभावात् । नहि तयोरनर्थान्तरत्वं लोके वेदे वा क्वचित्प्रसिद्धम् । नचाप्रसिद्धस्याङ्गीकरणं विदुषामादरास्पदम् ।

---

वेद अनित्य नहीं हो सकते । क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्यायसे ईश्वरके ज्ञानमें सदा बने रहते हैं सृष्टिके आदिमें ईश्वरसे वेदों की प्रसिद्धि होती है इस कारण वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं । जैसे इस कल्पकी सृष्टिमें शब्द अर्थ तथा सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकारसे पूर्व कल्पमें थे और आगेभी होंगे । क्यों कि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक रस ही बनी रहती है । उसमें एक अक्षरका भी विपरीत भाव कभी नहीं होता । इसलिये ईश्वर विद्यामयही वेद हैं अतः वे नित्य हैं इत्यादि ऋषि के तर्क सङ्गत लेखकोभी घनश्यामजीने असङ्गत ठहराने का जो प्रयत्न किया है । वह भी निरर्थक है कारण कि आपने उसमें कोई हेतु नहीं दिया कि उक्तलेख क्यों मनोज्ञ नहीं ! किसी बातको अयुक्त ठहराने के लिये केवल यह कहदेना ही ' ठीक नहीं ' पर्याप्त नहीं होता ?

६९—और घनश्याम जी का यह कथन कि ' सर्व तथा जगत् ' इन दोनों में से एक के प्रयोगसे ही काम चलजाता फ़िर एकार्थ वाचक दो शब्दोंका प्रयोग ठीक नहीं बिल्कुल उन्मत्त प्रलापके समान ही । सर्व तथा जगत् शब्द की एकार्थवाचकता कहीं भी लोक अथवा वेदमें प्रसिद्ध नहीं अप्रसिद्ध पदार्थका आदर करना कदापि ठीक नहीं और जनाब

तयोरनर्थान्तरत्वेच 'ईशावास्यमिदॅं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगदित्यपि व्याकुलीभवेत् ।

७०-'किञ्च' नालं प्रश्नद्योतने तत्स्थाने ननुचेति भवेत्" इति कथनमपि साहसमेव कुतः ? किंशब्दस्य प्रश्नपरत्वं न कस्यापि शब्दशास्त्रविदः परोक्षम् । किन्तु घनश्यामस्य त्वन्य एव पन्था ।

७१-यत्तु 'जगतः कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात् कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते' इति पूर्वपक्ष उन्मत्तप्रलपितत्वमनुहरति नहि अन्यस्याभावोऽन्यस्य नि-

---

यदि इन दोनों की एकार्थ वाचकता ही मानाजावे तो 'ईशावास्य मिदॅं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' इत्यादि श्रुति दोषयुक्त हो जायगी क्यों कि उसमें सर्व तथा जगत् ये दोनों ही शब्द पड़े हुए हैं ?

७०—'किञ्च' यह पद प्रश्न द्योतन करनेमें असमर्थ है । इसकी जगह यदि स्वामीजी 'ननुच' का प्रयोग करते तो अच्छा होता यह बातभी न जाने आपने किस झोंकमें लिख मारी है । 'किं' शब्द का प्रश्न वाचक होना किसीभी शाब्दिक से परोक्ष नहीं है । बालकभी जानते हैं 'किम्' शब्द का प्रश्नार्थक प्रयोग हुआ करता है । किन्तु घनश्यामजी का मार्ग निराला ही है । अस्तु

७१—जबकि जगत् अपने कारण में स्थित हो जाता है उससमयमें किसीभी स्थूल कार्य के न रहने से पढ़ने पढ़ाने की स्थूल पुस्तक वेदादि हैं ये भी न रहेगी तो फिर वेद नित्य क्यों कर सिद्ध हो सकते हैं यहभी ऋषि का कथन उन्म प्रलाप जैसा है क्यों कि एकवस्तुका अभाव दूसरी वस्तु को नित्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकती इत्यादि कथनभी घनश्यामजी का ठीक नहीं है । क्यों कि यहां भ्रान्तिसे जिसका विनाश होता है उसी के अनित्यत्व प्रतिपादनमें ही प्रश्नकर्ता का आशय होनेसे ।

न्यत्वं प्रतिपादयितुं क्षमः इति, तदपि नितरामपेशलम् । यस्य विनाशस्तस्यैव भ्रमेणानित्यत्वप्रतिपादने प्रष्टुराशयात् । तन्मते पुस्तकरूपस्यैव वेदसद्भावाच्च ।

७२-' किञ्च प्रलयवेलायां स्थूलरूपेणाविद्यमाना अपिवेदाः सूक्ष्मरूपेण भवन्ति तथा सर्वेऽपि पदार्थाः सत्कार्यवादे तदानीमपि स्वीकृता एव । तैः सह भवतः को विरोधस्तेषामपि नित्यत्वं स्वीकरणीयं पक्षपातशून्यदृशा विदुषा "। इति यत्तदप्यस्य शास्त्रदृष्टिविहीनताद्योतकम् । सत्कार्यवादस्य तत्त्वतो भाव एव पर्यवसानात् । स्थूलत्वसूक्ष्मत्वचर्चायास्तत्रानादराच्च । नहि कस्यापि सतः पदार्थस्यास्तित्वं विहन्यते एतन्मात्रमेव सत्कार्यवादेन सम्पाद्यते न जातु कस्यचिदवस्थाविशेषस्य परिणामाक्रान्तिरुपपाद्यते ।

---

और उसके मतसे पुस्तक को ही वेद स्वीकारनेसे । अभिप्राय यह है ।- प्रश्न कर्ताने पुस्तक रूपी वेदको ही नित्य समझा था ( भ्रान्तिसे ) इसी भावसे उसने प्रश्न किया. जब सभी स्थूल पदार्थ नष्ट हो जायंगे तो पुस्तक रूपी वेद भी नष्ट हो जायंगे फिर वे नित्य कैसे होसकते हैं । इसी का उत्तर स्वामीजीने दिया फिर इसको घनश्यामजीने नजाने कैसे उन्मत्त प्रलाप समझा ?

७२—तथा स्वामीजीके इस कथनपर कि प्रलयवेलामें स्थूलरूपसे वेदों के न रहनेपर भी सूक्ष्मरूपसे वे रहते ही हैं आप कहते हैं कि इस प्रकार तो सभी पदार्थ सत्कार्य वाद में स्वीकारे हैं तो उन्हीं के साथ आपका क्यों विरोध है । " इत्यादि कथनभी आपका केवल शास्त्र दृष्टि विहीनता काही द्योतक है । क्यों कि सत्कार्य वादका वास्तवमें पदार्थोंके सद्भावमें ही तात्पर्य है । स्थूलता अथवा सूक्ष्मता से उनका विशेष प्रयोजन नहीं है । वे केवल यही मानते हैं कि किसी भी पदार्थ के आस्तित्व का नाश नहीं होता । यद्यपि उनमें परिणाम आदि विकार उत्पन्न होते रहते हैं तथापि उनकी सत्ता का नाश नहीं होता । सत्कार्य वादका

अनित्यशब्दस्य वैय्यर्थ्यप्रसङ्गात् । अन्यथाऽनित्यशब्द एव व्यर्थतां भजेत ।

७३-" इदन्तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थेषु घटते ' इत्याद्याश्रित्य यदिदं पदबोध्यं किमिति पृच्छाऽपि न चारुतां बिभर्ति । ' इदमिति पदस्य उपरिपृष्टस्य परामर्शकत्वात् । इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

७४-' अस्मत्क्रियापक्षे नेतरस्मिन् ' इत्यत्र क्रियाशब्देन किं मुच्यते? इतिजीप्सायां वदामः कृतिरिति । नेतरस्मिन् इत्यस्य ईश्वरीयज्ञान-पक्षे नेति भावः । अनेनैवास्याशेषविशेषोक्तमपि खण्डितं प्रत्येतव्यम् । ईश्वरीय ज्ञानस्यैव तत्पदेनेष्टत्वात् ।

---

यही आशय है । यदि ऐसा न हों तो अनित्य शब्दही व्यर्थ हो जाय । रिणाम ' एवं परिवर्तन होनेपर भी वस्तुओंकी सत्ता नष्ट नहीं होती । " नाऽसतो विद्यते भावो नाभावोविद्यतेऽसतः " अर्थात् असत् पदार्थ सत् नहीं होसकते और सत् असत् नहीं होसकते यही सत्कार्य वादका तत्व " इससे नजाने आपने स्वामीजीके लेख में कैसे विरोध पाया ।

७३—आपका ' इदं ' यह तो पुस्तकपत्रमसी आदि पदार्थों में घटती है ' इस पदमें ' इदं ' इस पदसे किसका बोध होता है यह बालको-वाल प्रश्न भी निस्सार हैं कारण सबकोई समझसकता है ' इदं ' यह पद उपर पूछे गये प्रश्नका ही परामर्शक है ।

७४—आपने जो पूच्छा ' अस्मत्क्रियापक्षे ' इसमें क्रिया शब्द क्या लेते हो ? तो इसके उत्तर याही है क्रियाशब्दसे यहा ' कृति ' काग्रहण है और ' नेतरस्मिन् ' इस पदसे ' ईश्वरीय ज्ञान पक्षमें ' यह भाव है । ऐसा होनेपर किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं आती । इसीसे पण्डित घनश्यामजीके अन्यभी इस प्रकारके आक्षेपोंका समाधान करलेना चाहिये । कारण तत्पदसे वहांपर ईश्वरीय ज्ञानही इष्ट है ।

७५-'ईश्वरीय विद्यामया' इत्यत्र मयट् प्रत्ययः कस्मिन्नर्थे, इति जिज्ञासायां वदामः स्वार्थे मयट्। नतथा सति किञ्चिदनुपपद्यते। 'पूर्वोक्तप्रकारेण स दोषस्तदवस्थ एवेति' युक्तितर्कशून्यं वचनं न मानास्पदं। हेतुशून्यानां तत्त्वानां कपोलकल्पितत्वेन प्रतिवचनानर्हत्वात्।

७६-किञ्च 'ईश्वरज्ञानस्य तत्र समवेतत्वेनान्यत्र संक्रमासम्भवात्। इति यत्तदपि तद्बाललीलोपोद्वलितमेव। वह्निसमवेतौष्ण्यादेर्जलादौसंक्रमस्य सर्वानुभविकत्वात्।

७७-यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाःसन्ति तथैव पूर्वस्मिन्नग्रे भविष्यन्ति च कुतः? ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभि-

---

७५—'ईश्वरीय विद्यामय' यहांपर मयट् प्रत्यय किस अर्थमें है। जनाब यहां स्वार्थमें ही मयट् है। इस पर यदि कहो कि तब तो पूर्वोक्त दोष वैसे ही कायम रहेगा तो ठीक नहीं कारण इसके लिये आपने कोई हेतु नहीं दिया। चूंकि हेतु शून्य तत्व कल्पित होते हैं इस लिये एसे आक्षेप उत्तर पाने अयोग्य हैं।

७६— यह आपका कथनभी कि ईश्वरमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला तदीय ज्ञान ( ईश्वरीयज्ञान ) का अन्यत्र ऋषियोंके हृदयमें सङ्क्रमण नहीं हो सकता बिल्कुल बालक्रीड़ा मात्रही है। क्योंकि सभी जानते हैं। अग्निमें समवेत ( समवायसम्बन्धसे रहनेवाला ) उष्णताका जलमें सङ्क्रमण हो जाता है। अर्थात् जलभी गरम हो जाता है फिर इस प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दृष्टान्त आपका यह कथन कि समवायसम्बन्धसे रहनेवाले गुणोंका अन्यत्र सङ्क्रमण नहीं हुआ करता नितान्त भ्रममूलक है या नहीं?

७७—जिस प्रकार इस कल्पमें वेदोंमें शब्दार्थ सम्बन्ध हैं वैसेही पूर्व कल्पमें थे तथा आगे कल्पमें रहेंगे। कारण कि ईश्वरीय विद्या अव्यभि-

चारित्वाच्च" इत्यत्र पूर्वन्तु शब्दार्थसम्बन्धस्यैव नित्यत्वं प्रतिपादितं किन्तु सम्प्रति 'अक्षरमपि तथात्वेन गृहीतम्" इति यदक्षरसमावेश आक्षिप्तस्तदपि न किञ्चित्करम् तादृक्समावेशेन दोषविशेषप्रसङ्गासम्भवात् ।

७८–ईश्वरविद्याया नित्यत्वेन हेतुना वेदस्य नित्यत्वसिद्धिमापादयतो 'वेदा ईश्वरविद्यारूपास्तद्भिन्ना वेति पृच्छायामाचक्ष्महे तत्स्वरूपा एव वेदा, नजातु तद्भिन्ना भवितुं शक्नुवन्ति। नच वेदस्य तत्स्वरूपत्वे प्रमाणाभावोऽस्तीति वाच्यम् । पूर्वमेवानेकप्रमाणप्रदर्शनात् । सन्ति हि बहूनि 'तस्माद्दचोऽपातक्ष' न्नित्यादीनि तत्स्वरूपत्वसाधकानि प्रमाणानि इति नात्र ग्रन्थविस्तरभिया समुद्धियते । विशेषतो जिज्ञासुभिस्तत्रैवानुसन्धेयानि ।

७९–" सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदित्यादिमन्त्रे 'सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थमिति" अत्रोपलक्षणार्थेतिपदमादाय

---

चरित अर्थात् नित्य है" इसमें घनश्यामजी फरमाते हैं कि पहिले तो शब्दार्थ सम्बन्ध ही नित्य ठहरायेथे किन्तु अबतो अक्षरभी नित्य मानने लगे इस प्रकार जो अक्षरों के नित्यमाननेपर जो आक्षेप किया है वह भी कदर्य्य है । अक्षरोंके नित्यमाननेमें कोई दोष विशेष नहीं आता ?

७८—'वेद नित्य हैं ईश्वरीय विद्यामय होनेसे' इसमें 'ईश्वरीय विद्यामय' इस हेतुपर आक्षेप करते हुए जो पूछा कि वेद ईश्वर विद्यारूप हैं वा उससे भिन्न ? उत्तर यह है । ईश्वर विद्यारूपाही वेद है उससे भिन्न नहीं यदि यह कहो कि वेदोंके तत्स्वरूपत्व में प्रमाण क्या है ? तो हम कहते हैं कि अनेकों प्रमाण पूर्व दिखाये जाचुके हैं "तस्माद्दचोऽपातक्षन्" इत्यादि जो यहां विस्तार के भयसे नहीं लिखे जा सकते विशेष जिज्ञासुओं को वहीं इसप्रकरण में ही देख लेना चाहिये ।

७९—'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता' इत्यादि मन्त्रमें स्वामीजीके इस वचपर 'कि यहां सूर्य्यचन्द्रग्रहण उपलक्षणार्थ हैं अपने बहुत हंसी कीहै ।

बहूपहासितं पण्डितप्रवरेण किन्त्वाश्चर्यास्पदमिदमस्ति यदेताहशेषु साधारणपदेषु यस्यजिज्ञासा समुज्जृम्भते किमिव न तस्य संशयपथमवतरेत् । उपलक्षणमर्थःप्रयोजनं यस्य तदुपलक्षणार्थमुपलक्षणमत्र प्रयोजनमितियावन्नाऽत्र किञ्चिदपि निरुपपद्यते । महात्मन् ? श्रीमद्भिस्तु प्रतिज्ञातं 'नहि मम हृदयेऽस्ति पक्षपातोऽप्यथवाद्वेषविधानमत्र किञ्चित्" परमेताहशाक्षेपास्तु केवलं श्रीमतां हार्दिकविद्वेषपोषका एवेति प्रत्यक्षमेव किन्त्विदमपि समवधेयम् यदेताहशा निस्सत्वाक्षेपा भवतामेव 'कुक्कुटमिश्रपादत्वं स्फोटयन्ति । किमेभिर्वृथानिरर्थकोट्टङ्कनैः । किमपि पाण्डित्यपूर्वकं समालोचनीयम् ।

८०-'चन्द्रादिरचनन्तु ज्ञानमध्ये ह्यासी' दिति प्रयुक्तिवैलक्षण्यन्तु पूर्वमेव दत्तोत्तरम् ।

८१-यच्चेश्वरीयज्ञानस्याजन्यभावरूपतामापादयता यास्कीयाः षड्भावविकाराः प्रदर्शितास्तदपि सर्वमकाण्डताण्डवमेवास्य महा-

---

परन्तु हमें आश्चर्य यह होता है कि ऐसे सरलपदों को देखकर भी जिस की ज्ञानपिपासा भड़क जाती है उसके लिये कौनसी बात संशयास्पद न होगी । भाई उपलक्षणार्थ का अर्थ है कि उपलक्षणही अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसका उसको कहते हैं उपलक्षणार्थ इसमें संशयवाली बात आपको कौनसी मालूम हुई । जनावने तो प्रतिज्ञा की है कि 'मेरे हृदयमें कुछ पक्षपात नहीं और नाही कुछ विद्वेष है' किन्तु इस प्रकारके तुच्छ आक्षेपोंसे तो आपके हृदयगत दोषोंके ही पोषक है ! परन्तु याद रखिये ऐसे अकिञ्चित्कर व्यर्थ आक्षेपों से आपका कुक्कुट मिश्रपना जाहिर होता। कुछ पाण्डित्य पूर्वक सिद्धान्त विषयक समालोचना करते ।

८०—चन्द्रादि की रचना तो ज्ञान के मध्य में ही थी इसको जो आपने विलक्षण युक्ति कहा है सो इसका तो पहिले उत्तर दिया जा चुका है ।

८१— और जो आपने 'ईश्वरीय ज्ञान के अजन्यभाव(अनुत्पत्तिमत्त्व) पर आक्षेप करते हुए यास्काचार्य के षड्भाव विकार दिखायें है वह भी

पण्डितस्य ? भावविकृतिमादायैव तत्प्रतिपादितत्वात् । इदमत्रा-वधेयम् । यत्र भावा विकृतिमुपयन्ति तत्र षड्प्रकारकामेवोपयन्तीति यास्काचार्यस्य हृदयम् । नचात्रेश्वरीयज्ञानं कर्हिचिद्विकृतिमापद्यते । तस्य तादृशविकृत्यादिनिखिलविपर्ययशून्यत्वात् । तदेतद्भवतां कथनञ्चाऽत्र लवतोऽपि संश्लिष्यते ।

८२-किञ्च "नित्योपादानं वस्तु नित्यमेव भवतीति कुतस्त्यो-व्याप्तिग्रहः ? नूनमेतत्प्रश्नेन तु श्रीमद्भिः स्वीया तर्कचातुरी प्रकटिता? किमत्र बहुतरं वक्तव्यम् ? अत्र तु भगवन्तः कणादाचार्यचरणा एव प्रष्टव्याः ? यतस्तैरेव "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्ट" इति स्पष्टतया सिद्धान्तत्वेनोपपादितम् । अतस्त एवाऽत्र प्रमाणम् । नच नित्यप्रकृतिका स्थूलभूतसृष्टिः कथमनित्येतिवाच्यम्? अत्रानित्येति प्रयोगस्य भाक्तत्वात् । भाक्तोऽयमनित्यपदप्रयोगः । नहि

---

आपका अकाण्ड ताण्डव ही है । क्यों कि यास्काचार्य ने केवल भाव विकृति को लेकर ही उसका प्रतिपादन किया है । अर्थात् जहांपर भावपदार्थ विक्रिया को प्राप्त होते हैं वहां छे प्रकार से ही होते हैं। यही यास्काचार्यका अभिप्राय है किन्तु उस कथन से यहां यह कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि 'ईश्वरीय ज्ञानभी विकारको प्राप्त होता है'! आपने निरुक्तको भी खूब समझा ! क्यों नहीं घनश्यामजी हीतो ठहरे न!

८२—'नित्य उपादान वाली वस्तु नित्य ही होती है' इसपर घनश्यामजी फरमाते हैं कि यह व्याप्ति कहां से ली ? श्रीमन् ! यह प्रश्न तो आचार्य कणाद से पूछिये जिन्होंने यह नियम बनाया है 'कारणः गुणपूर्वक कार्य गुणो दृष्टः' इति अर्थात् कार्य में कारणगुणपूर्वक ही गुण आते हैं । यदि कहो कि फिर नित्योपादान प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला कार्य जगत् भी क्यों न नित्य होना चाहिये ? तो उसका यही उत्तर है कि यहां अनित्य शब्द गौण है मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ । अनित्यशब्दसे नाशका अभिप्राय नहीं किन्तु उससे परिणाम

नित्यपदेन समूलनाशमभिप्रेमो येनेदृशी शङ्का समुदियादपितु परिवर्त्तनशीलत्वमेव, विकृतिं गता सृष्टिः पुनः प्रकृतिमुपैति न तु विनश्यति।

८३-यच्च 'साक्ष्यर्थमित्यनेन वेदभाष्यकृतौ वैयाकरणत्वंप्रत्येतव्यम्' इति प्रतिपादितन्तदपि न किञ्चित्करम्। मद्रणादिदोषेण तन्मात्रस्य (अकारस्य) लोपप्रसङ्गसाङ्गत्येनादोषात्।

८४-किञ्च शब्दनित्यत्वपोषकं महाभाष्यकारस्य 'नित्याः शब्दाः" इत्यादि वचनमापादयता यत्प्रदीपोद्योतकारमतं समुद्धृत्याऽनल्पं जल्पितम् तदप्यनुचितमेव। महाभाष्यकृन्मते मुक्तकण्ठतः शब्दानां नित्यत्वाङ्गीकारात्। तस्यैवात्रप्रमाणत्वेनोपन्यासाच्च। सन्तु नाम बहुशो विवदमाना जातिस्फोटवादिनो व्यक्तिस्फोटवादिनश्चेति कथान्तरं हि तत्। द्रष्टव्यन्त्विदमस्ति यन्मह-

---

अथवा विक्रिया या परिवर्तन काही ग्रहण होता है। विकृतिको प्राप्त हुई सृष्टि पुनः प्रकृतिभावको प्राप्त होती है नाशको प्राप्त नहीं होती, इसी अभिप्रायसे ऐसे प्रयोग किये जाते हैं।

८३—'साक्ष्यर्थ' इस प्रयोग को लेकर स्वामीजीके वैय्याकरणत्वपर बड़ा आक्षेप किया है वहभी निरर्थक है क्यों संशोधकों की भूल आदिसे इस प्रयोगमें अकारकी मात्र उड़गयी दीखती है। 'साक्ष्याथ' के स्थानमें साक्ष्यर्थं ही छपगया है। इसमें ऋषिकी भूल मानना कहांतक ठीक है यह ज़रा विद्वान् लोग स्वयं विचारें ?

८४—जो शब्दके नित्यत्व पोषक महाभाष्यके वचनपर आपने आक्षेप किया है वह भी असङ्गत है क्योंकि महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषिने तो मुक्त कण्ठसे शब्द को नित्यमाना है। प्रदीप और उद्योतकर आदि कुछ भी क्यों न लिखा करें द्रष्टव्य तो यहां यही है कि स्वामी जी महाराजने जो महाभाष्यका प्रमाण उद्धृत किया है वह शब्दके नित्यत्वका पोषक है या नहीं ? हमारा ज़ातिस्फोट वादियों और व्यक्ति

र्षिणा समुद्धृतं वचनं पातञ्जलमस्ति ? नवा ? चेदस्ति तत्पातञ्जलम् तर्हि किमन्यदस्माकमपेक्ष्यमिति ।

८५-यत्तु भ्रममूलमिति पदं खण्डयन् यत्तत्स्थाने 'भ्रमात्मकमिति सुवचमित्युवाच तदपि न चारु । उभयोस्समानार्थकत्वेनाविशेषात् । भ्रमकारणकमेव भ्रमात्मकं भवितुमर्हति न जातु तद्भिन्नम्। कारणसत्वस्य सुतरां कार्यसत्वापातात् ।

८६-नच "नैवशब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि सतीत्यत्र 'शब्दस्य' कथमन्वयः स्यादिति वाच्यम् 'एकदेशविकारिणि' इत्यत्र 'शब्दे' इति सप्तम्यन्तस्याध्याहारान्नाकिमप्यसम्बद्धम् ।

८७-किञ्च महर्षिप्रदिष्टं शब्दनित्यत्वोपोद्बलकं 'नित्यस्तुस्याद्दर्शनस्य परार्थत्वा' दिति मीमांसानुशासनमापादयता यत्प्रणयगादि

---

स्फोट वादियोंसे क्या मतलब ? हां यदि भाष्यकारके उद्धृत किये हुए प्रमाणमें कुछ दोष निकालते तो ठीक भी था ? किन्तु उसे नकर इधर उधर वृथा धावन कर रहे हैं इससे क्या फायदा ?

८५—'भ्रममूलम्' इस पदका खण्डन करते हुए आप कहते हैं कि 'भ्रमात्मक' यह कहना चाहिये था । परन्तु हम नहीं समझते कि इन दोनों पदोंमें आपने क्या विशेष देखा ? भ्रमकारणक ही भ्रमात्मक हो सकता है अन्य नहीं क्यों कि कारणसत्व ही कार्य सत्व में आता है इससे भ्रममूलक तथा भ्रमात्मकमें कोई विशेष भेद नहीं ।

८६—'नैव शब्दस्यैक देशे' इत्यादि स्वामीजीके वाक्यमें आपका कथन है 'एकदेशे' इत्यादि सप्तम्यन्तके साथ षष्ठ्यन्त 'शब्दस्य' इस पदका अन्वय कैसे होगा ? तो यह तो सीधी सी बात है ऐसे स्थानोंमें जैसे ही अध्याहार होजानेसे यहां भी एकदेशविकारिणी 'शब्दे' इसका अध्याहार हो जाता है । इसमें कुछ विशेष तत्व नहीं ?

८७—महर्षि दयानन्द जी शब्द के नित्यत्वपोषक 'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' इस मीमांसाके सूत्र पर आक्षेप करते हुए जो कह

घनश्यामेन तदपि निकामं भ्रामिकम्। तुशब्दस्यात्र स्पष्टं तदनित्यत्वव्यावर्त्तकत्वेन, तद्दर्शनस्य परार्थत्वहेतुनाच सुव्यक्तं 'नित्यः" इतिपदेन सुतरां तन्नित्यत्वप्रतिपादनात्। न किञ्चिदनुपपन्नम्। हन्त! नूनं शब्दतः पठितमपि तन्नित्यत्वप्रतिपादकं 'नित्य।' शब्दमर्थतो विपर्ययितुकामोऽयं घनश्यामोऽस्थाने यतमानो न लज्जत इत्याश्चर्य्यम्। अयि तर्कचञ्चो! अलमेवंविधवञ्चनोदञ्चनप्रपञ्चैः।

८८—किञ्च 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति कणभक्षाऽक्षचरणानुशासनमाश्रित्य 'वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यमित्यादिग्रन्थजातं समालोचयन्नयं यत्प्राह तदपि न युक्तम्। तदाशयवैषम्यात्। विषमो ह्यत्र महर्षेराशयः कुतः? वेदचतुष्टयस्यैवात्र नित्यत्वेन प्रतिपादनात्। नित्येनेश्वरेणोक्तत्वाद्वेदानां प्रामाण्यं नित्यत्वञ्च निर्बाधमिति। इदमत्रावधेयम्।नाऽत्रेदं सूत्रं शब्दनित्यत्व-

---

है वहभी नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि यहां पर स्पष्ट 'तु' शब्द अनित्यत्व का व्यावर्त्तक अथवा व्यवच्छेदक है। 'तद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' उसके दर्शनके परार्थ होनेसे इस हेतुसे 'नित्यः' इस पदसे अच्छीतरहसे शब्द के नित्यत्व का प्रतिपादन किया है। बडे खेद की बात है शब्दतः पढेहुए 'नित्यः' इस शब्दके होते हुएभी व्यर्थ ही घनश्याम जी आप अर्थ बदलने का प्रयत्न कर रहे हैं! हे तर्कचञ्चु अपनी वञ्चनाके प्रपञ्चसे क्षमा ही कीजिये।

८८—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति' इस कणादाचार्यके सूत्र पर "चारों वेदोंकी प्रामाणिकता सबको नित्यत्व रूपसे स्वीकार करनी चाहिये। इत्यादि ग्रन्थकी समालोचना करते हुए जो कहा है वहभी युक्त नहीं। क्योंकि उनके अभिप्राय कोही आपने नहीं समझा। महर्षिका आशय तो यहांपर वेदचतुष्टयके नित्यत्व प्रतिपादनमें ही था नित्य ईश्वरोक्त होनेसे वेदोंका प्रामाण्य है अर्थात् वेदभी नित्य हैं। और यही समझना चाहिये कि यह सूत्र शब्दके नित्यत्व प्रतिपादन करनेकी इच्छा से नहीं

प्रतिपिपादयिषया प्रामाण्येनोपन्यस्तमपितुतत्प्रामाण्यद्वारा तन्नित्यत्वमपि सुतरामापतितमिति धियैवसमुद्धृतम् । तथा सति न किञ्चिदप्यनुपपन्नम् ।

८९ नन्वत्र तु वेदानां प्रामाण्यं साधितं नतु नित्यत्वमिति चेन्न तत्प्रामाण्येनैव वेदानां नित्यत्वोपपत्तेः । भगवदुक्तत्वात्तेषां प्रामाण्येनैव तन्नित्यत्वमपिसुतरामुपपद्यते । नचतथासति स्वरूपासिद्धत्वापत्तिरिति वाच्यम् । निरुक्तप्रणाल्या तदापत्तेःसर्वथाऽनवकाशादिति सर्वं सुश्लिष्टम् । एतेनैव, सर्वेऽप्येतत्सहोदरा आक्षेपा अनुसन्धेयाः । नते निस्सत्वधिया विस्तरभियाचात्र समुल्लिख्यन्ते ।

---

# अथ वेदविषयविचारः ॥

९० अथ तावदिदमपि विचारमर्हति 'यदिदमुच्यते 'वेदविषयविचारविषय' इति । वेदानां विषयो वेदविषयः, वेदप्रतिपाद्योऽर्थः

---

लिखागया किन्तु शब्द प्रामाण्य द्वारा वेदके नित्यत्वके स्वयंसिद्ध हो जानेकी दृष्टिसेही । ऐसा होनेपर किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती ।

८९—आपने यहां वेदोंका प्रामाण्य साधा नित्यत्व नहीं ? यदि यह कहो तो ठीक नहीं वेदोंका प्रामाण्य भी तो उनके नित्य होनेके कारण ही है न ?। यदि कहो कि वैसामाननेपर स्वरूपासिद्धि दोष होगा तो ठीक नहीं क्यों कि उक्त प्रणालीसे स्वरूपासिद्धि नहीं आसकती । इससे इस प्रकारके सभी आक्षेपका खण्डन समझ लेना चाहिये । विस्तारके भय तथा उनके निस्सार होनेकारण यहां नहीं लिखे जासकते ।

---

## अथ वेदविषय विचार.

९०—आपका कथन है कि 'वेद विषय विचार विषय' अर्थात वेद प्रतिपाद्य विषयक विचारका विषय प्रारम्भकरते हैं । इसमें षष्ठी तत्पुरुष

इत्यर्थः । वेदविषयविचारे विषयो यस्य स इति, वेदविषय-विचारस्य विषय इति षष्ठीतत्पुरुषो वा ? अत्रोच्यते । आद्यो बहुव्रीहिरेव ज्यायान् । न चाद्यस्य ज्यायस्त्वाङ्गीकारे कस्यात्रान्यपदार्थत्वं ? ग्रन्थस्य वा, ग्रन्थभागस्य वा, उपक्रमस्य वेति वाच्यम् । "अत्रचत्वारो वेदविषयाः सन्तीत्यारभ्य 'तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते' इत्यन्तस्यैवान्यपदार्थत्वेनाभ्युपगमान्न किञ्चिद्व्याहतम् । वस्तुतस्तु काशीस्थलाजरसकम्पन्याख्ययन्त्रालयमुद्रिते प्राचीनपुस्तके तु * "वेदविषयविचार" इत्येव शीर्षकत्वेनोपन्यस्तम् तथा सति नासीदत्र शङ्कावकाशः किन्तु निरुक्तप्रणाल्योल्लेखेऽपि नास्ति काचित्क्षतिरिति कृत्वैवेतत्प्रत्युक्तम् केवलमस्य पण्डितमण्डलाखण्डलस्य कण्डूनिकण्डनार्थमेव ।

९१ यच्च वेदानां विज्ञानकर्म्मोपासनाज्ञानकाण्डाख्यं विषयचतुष्टयमुद्दिश्य "न विज्ञानकाण्डं वेदप्रतिपाद्यो विषयः" इत्युक्तं तदप्ययुक्तंभ्रमभरितञ्च । वेदानां विज्ञानप्रतिपादकत्वस्य सर्वाभियुक्तसाक्षि-

---

है या बहुव्रीहि ? यदि बहुव्रीही है तो अन्यपदार्थ क्या होगा ग्रन्थ वा ग्रन्थभाग ? अथवा उपक्रम ? इसके उत्तरमें हमारा कथन है यहांपर बहुव्रीहि समझना चाहिये । 'और चार वेद विषय हैं' यहांसे लेकर "तद्वचनमप्रमाणमेव' अर्थात् वह वचन अप्रमाण ही ऐसा जाना जाता है" यहांतक सब अन्यपदार्थ रहेगा । इसप्रकार किसी प्रकार का दोष भी नहीं आता । वास्तव में काशी के लाजर्स कम्पनी के यन्त्रालयमें मुद्रित प्राचीन पुस्तकमें तो 'वेदविषय विचारः' ऐसा ही पाठ है । परन्तु यदि उपरि निर्दिष्ट पाठ भी हुआ तो भी कोई विशेष भेद नहीं है ।

९१—और जो वेदके चार विषयों ( विज्ञान, कर्म, उपासना, तथा ज्ञान ) को ले विज्ञानकाण्ड वेदका विषय नहीं है' यह लिखा है वह

---

* विक्रमीय सम्वत् १९३४ मिते मुद्रापितउक्तमुद्रणालये ।

कत्वात्। नच 'नाहि विज्ञानप्रकरणं वेदेन प्रतिपाद्यते। अपि तु विज्ञान-विषयमेव तत्प्रकरणमिति ' वाच्य । ? तादृशोक्तिप्रणाल्याः सर्वजनीनत्वात् । काण्डप्रकरणवर्गस्कन्धविषयाणां वस्तुगत्या समानार्थकत्वाच्च। नहि समानार्थमभिदधतामेषां कतमस्यापि प्रयोगेण किञ्चिद् व्याहन्तुं पार्यत इति सर्वं सूपपन्नम् ।

९२ किञ्च ' तत्रादिमो विज्ञानविषयः सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयात् तत्राऽपीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति । कुतः । अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति। ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यःपदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्" इत्यादि सन्दर्भमुद्दिश्य यत्स्वोक्तिविरोधः प्रतिपादितस्तदपिनिरर्गलम् । सर्वेभ्योऽन्यविषयेभ्यो मुख्यत्वेऽपि विज्ञानस्येश्वरानुभवादमुख्यत्व-प्रतिपिपादिषयैव तदुक्तत्वात् । ईश्वरानुभवं विहाय सर्वेभ्योऽपि

---

भी बिल्कुल भ्रान्तिपूर्ण है । क्योंकि यह तो सब ही जानते हैं कि वेद विज्ञानकी खान है । और इस प्रकारके अनेक मन्त्र वेदों से उद्धृत किये जासकते हैं कि जिनमें विज्ञान के ऐसे ऐसे विचित्र सिद्धान्तों का वर्णन है जिन्हें देखकर आजकल के वैज्ञानिकों की भी आंख खुल जाती है । महाशय ! काण्ड, प्रकरण, स्कन्ध, ये सब वास्तव में एकार्थ वाचकही हैं । जब सब समानार्थक हैं फिर इनमें से किसी एक का भी उल्लेख किया जा सकता है उसमें आपको बाधा क्या प्रतीत हुई ?

९२—किञ्च उसमें भी आदिका विज्ञान विषयही सबसे मुख्य हैं क्यों कि उसका परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त सब पदार्थोंमें साक्षाद्बोधका अन्वय है। उस विज्ञानसे ईश्वरानुभव मुख्य है। क्योंकि इसमें ही सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य है। और ईश्वर सब पदार्थों में प्रधान है" इत्यादि सन्दर्भ को लेकर घनश्यामजीने लिखा है कि स्वामी जी के लेखमें पूर्वापर विरोध है सो ठीक नहीं क्योंकि अन्य सब विषयों से विज्ञानके

विषयेभ्यस्तन्मुख्यत्वप्रतिपादनस्यैव वक्तुराशयोऽस्तीति न कश्चि-द्विरोधः ।

९३ नच ' विज्ञानविषयस्य मुख्यत्वे " विज्ञानस्य परमेश्वरा-दारभ्यतृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षान्वयबोधादितिहेतुः कथन्तरां साध्यस्य साधने क्षम इतिवाच्यम् तस्य तथोक्तहेतुत्वस्य सुस्पष्टत्वात् । यद्द्वारकं हि परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तज्ञानमस्ति तच्चेन्नास्ति सर्वेभ्यो मुख्यं सर्वातिशायिच तर्हि किन्नामान्यत्सम्भवितुमर्हति ? महात्मन् । नन्वीश्वरीयज्ञानस्य मुख्यत्वं किमिव नास्तीतिचेन्न । तस्य पूर्वमेव ततोऽपि मुख्यत्वस्य, " तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ती " त्यादि सन्दर्भेणाङ्गीकारात् ।

९४ किञ्च ' साक्षाद्बोधान्वयत्वात् ' इत्यत्र साक्षाद्बोधस्य प्रत्यय-परत्वमाश्रित्य तदन्वस्य सर्वत्रसम्बन्धासम्भवतामभ्युपेत्य ' नच

---

प्रधान होनेपर भी ईश्वरानुभवसे तो वह अप्रधान ही है इसी आशय से स्वामीजीका वैसा लेख है इसलिये इस में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।

९३—और विज्ञान विषय के मुख्य होनेपर परमेश्वर से लेकर पृथ्वीपर्यन्त पदार्थों में उसका साक्षात् बोध होनेसे यह हेतु साध्यके सिद्ध करनेमें कैसे समर्थ होगा । यहभी घनश्याम जी का कथन ठीक नहीं प्रतीत होता । क्योंकि उक्तहेतु तो स्पष्ट है । भाव यह है जिसके द्वारा परमेश्वरसे लेकर पृथ्वी पर्यंत सब पदार्थोंका ज्ञान होता है यदि वह सबसे मुख्य नहीं है तो फिर दूसरा कोनसा सबसे मुख्य हो सकताहै । ननु ईश्वरीय ज्ञान का मुख्यत्व क्यों नहीं यदि ऐसा कहो तो पहिलेही "तत्रापि ईश्वरानुभवस्यैव मुख्यत्वे" अर्थात् उन सब में भी ईश्वरानुभव ही मुख्य है " इसलेखसे उसकी पुष्टि करचुके हैं । इसलिये उक्त कथन भी आपका ठीक नहीं ।

९४ और ' साक्षाद्बोधान्वयत्वात् " इसमें साक्षात् बोधके ज्ञानपरत्वको लेकर, उसके सम्बन्धका सर्वत्र अन्वय होना असम्भव है क्योंकि सब;

सर्वान् पदार्थान् साक्षाद्बोधो विषयीकरोतीन्द्रियवृत्त्यतिक्रान्तानामपि पदार्थानां सत्वात्'। इत्याक्षिप्तं तदपि न दोषनिर्लिप्तम्। तादृशसाक्षाद्बोधान्वयसार्वभौमसम्बन्धस्य निखिलप्रेक्षावतामपरोक्षत्वात्। अन्यथा 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' इत्यादि पातञ्जलमनुशासनं प्रपीड्येत। तथाहि सुव्यक्तमत्र प्रातिभशब्देन प्रतिपादितम्। प्रातिभमिति तान्त्रिकी परिभाषा, प्रसंख्यानहेतुसंयमवतः पुरुषस्य सर्वमतीतानागतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टं निखिलवस्तुजातं ज्ञातं भवति साक्षाद्बोधान्वितं भवतीति यावत् तस्मात् भवतां 'नच सर्वान् पदार्थान् साक्षाद्बोधो विषयीकरोति" इतिकथनमुन्मत्तप्रलपितमेव।

९५ किञ्च "तत्रापराऋग्वेदोयजुर्वेदसामवेदोऽथर्ववेदः" इत्यादिकं मुण्डकोपनिषद्वचनमुद्धृत्य यदस्य 'ब्रह्मण्येव वेदानां तात्पर्य-

---

पदार्थों का साक्षाद्बोध नहा होसक्ता कारण कि वहुतसे पदार्थ तो अतीन्द्रिय भी तो हैं उनका साक्षद्बोध कैसे होसकेगा" इत्यादि आक्षेप भी पण्डित घनश्यामजीका व्यर्थ ही है। क्यों उसप्रकार के साक्षाद्बोध के अन्वय का सार्वभौम सम्बन्ध होना सबके लिये प्रत्यक्ष है यदि सब पदार्थों का साक्षात् सम्बन्ध किसीको भी नहीं होता तो 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' इत्यादि पतञ्जलि ऋषिके अनुशसान में बाधा आवेगी। क्योंकि उक्त सूत्रमें तो स्पष्ट बतलाया है कि ज्ञानी को अतीत अनागत, सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त दूरस्थ तथा पासवाली सभी वस्तु ओं का ज्ञान होता है उसीको प्रातिभज्ञान कहते हैं। 'प्रातिभ' यह शास्त्रीय परिभाषा है। अर्थात् संयमवान् योगी के लिये सभी पदार्थ साक्षाद्बोधान्वित होजाते हैं। इसलिये घनश्याम जी का उक्तकथन नितान्त भ्रमपूर्ण है।

९५—'तत्र परा ऋग्वेदो' इत्यादि मुण्डकोपनिषद्वचनको लेकर 'ब्रह्मण्येव वेदानां तात्पर्यमस्तीति' अर्थात् ब्रह्ममें ही वेदोंका तात्पर्य है इसके प्रामाणिकतापर आक्षेप करते हुए जो मज़ाक किया है वह

मित्यर्थे प्राम ण्यमाक्षिप्योपहसितंतदपि नूनं सान्निपातिकम् । एतदुद्धरणस्य विद्याभेदप्रदर्शन एव तात्पर्यपर्यालोचनात् ।

९६ किञ्च-" वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते अपरा पराचेति ' अत्र वेदपदं कुतोऽध्याहृतं स्वामिभिरिति प्रश्नस्योत्तरं ब्रूमः । वेदानां विश्वविद्या निधानत्वाद्धि स्वयमेव सुतरां तदध्याहृतं भवति । अन्यथा महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्था-वद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्मेति शाङ्करं वचः कुप्येत । तदेतदुक्तबलादेव वेदेष्विति पदं परामृश्य न किञ्चिदपराद्धम् महर्षिणा ?

९७ नच " वेदेषु अपरा विद्या ' इत्यभिधीयमाने कथमर्थबोधः सम्भवेत् यतो हि अपरा विद्या वेदवेदाङ्गात्मिका । तथाच वेदेषु वेदा

---

भी निश्चयसे सान्निपातजन्यही प्रतीत होताहै । क्यों कि इस उद्धरणसे केवल विद्याभेद ही प्रदर्शन करनेका तात्पर्य है । इसलिये आपका उपहासही स्वयं उपहासके योग्य है ।

९६—' वेदोंमें दोविद्या हैं परा तथा अपरा ' इसमें वेदपदका कहांसे अध्याहार किया इस प्रश्नके उत्तरमें हमाराकथन यह है कि वेद निखिल विद्याओंका निधान है इसलिये स्वयं ही वेदशब्दका अध्याहार हो जाता है । क्यों कि वेदोंके सिवाय और दो प्रकार की विद्या आयी कहांसे ? इसलिये साधारण पुरुष भी यह समझ सकता है कि उक्त दोनों प्रकारकी विद्या वेदमें ही हो सकती है । किन्तु घनश्याम जी यहभी नहीं समझ सकें तो किसका दोष है ? यदि वेदोंको सब विद्याओंका निधान न माना जावे तो ' महत ऋग्वेदादेः ' इत्यादि शाङ्करभाष्यभी दोषयुक्त हो जायगा जिसमें स्पष्टतया वेदको सर्व विद्या निधान बताया गया है महात्मन् ।

९७ आपका यह आक्षेप कि " वेदोंमें अपरा विद्या है यह बात ठीक नहीं कारण कि वेदमें वेद और वेदाङ्ग ये दोनों किस प्रकार रहसकते हैं इस लिये यह सर्वथा युक्ति एवं तर्कके विरुद्ध है " बिल्कुल असङ्गत है । क्यों

वेदाङ्गानिवेति सर्वथाऽपि युक्तिविरुद्धोऽयमर्थो न सुविचक्षणैरादरणीय इति वाच्यम्। अविशेषतस्सर्वज्ञानमयत्वाद्वेदानां न किञ्चिदप्यश्लिष्टम्। ' सर्वज्ञानमयो हि स इतिस्मरणात्।

९८ यच्च ' वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते ' इतीदं वाक्यमैहिकामुष्मिकार्थविषयज्ञानं व्यापारीकृत्य द्वावेव विषयौ निखिलवेदप्रतिपाद्याविरयर्थपरमेव प्रतीमः। तथा सति चत्वारो वेदविषयाः सन्तीत्यादिवाक्यैर्निष्पादितस्य विषयचतुष्टयस्य प्रकृतेन विरोध एव। प्रागुक्तस्यैव प्रामाण्ये वा मुण्डकश्रुत्यर्थविलोपप्रसक्तिरित्युभयतः पाशारज्जुरिति तदपि न वक्तुं युक्तम्। वेदविषयचतुष्टस्य सर्वाङ्गीकारात्। तस्य-परापरा विद्यान्तर्गतत्वाच्चार्थतो न लवतोऽपि वैरुद्ध्यमुज्जृम्भते। यद्यपि तत्रापरेत्यादिवचनेन विद्याद्वैविध्यं व्याचक्षाणवतापरा विद्याया वेदेभ्यो भिन्नत्वं प्रतिपाद्यते, तथाऽपि, वेदेषु परायाः सर्वथाऽभावं प्रतिपादयितुं केवलमेतावतैव को नाम विद्वान् परि-

---

कि वेदतो अविशेषतः सर्व ज्ञानमय हैं चाहे वह वेदमें हो या वेदाङ्गोंमें किन्तु सर्व विद्याओंका स्थान तो वेदही हैं। जैसा कि ' सर्व ज्ञान मयो-हि सः' अर्थात् वेद सर्व विज्ञानमय है ऐसा स्मृतियोंमें भी बताया गया है।

९८ वेदेषु द्वेविद्ये वेदितव्ये इससे वेदोंमें दो ही विद्याओं अर्थात् ऐहिक तथा पारलौकिक का वर्णन है तो फिर वेदोंमें जो आपने चार विषय बताये हैं उनसे इन बातोंमें परस्पर विरोध न आवेगा ? ' इत्यादि कथन भी घनश्यामजी का कुछ तत्व नहीं रखता। क्योंकि वास्तवमें वेदमें चार विषयका प्रतिपादनही हैं। और वे चारों विषय परा अपराके अन्तर्गत ही आजाते हैं इसलिए वास्तवमें किसी प्रकारका भी विरोध नहीं है। यद्यपि ' अपरा ' इत्यादि पदसे दो प्रकारकी विद्याओंको बताते हुए परा विद्याको वेदोंसे भिन्न बताया है तौभी परा विद्या वेदोंमें है ही नहीं यह कोई नहीं कह सकता। क्योंकि वेदोंको सभीने मूलोद्देशतः सब विद्याओंकी खान माना हैं। इसलिये भगवान्

वृद्धो भवितुमर्हति । यतो मूलोद्देशतस्तस्य सर्वविद्यामयत्वस्य सार्वतान्त्रिकत्वात् । तथाहि स्मरति भगवान् मनुः-" भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति " " सर्वज्ञानमयो हि सः " इत्यादिकं। तस्माद्भवतां कथनं केवलं गगनोन्मथनमात्रमेवेति दिक् ।

९९ किञ्च ' ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणमिति ' ज्ञानापरपर्यायोहि ग्रहणशब्दः तथाच ज्ञानेन उपकारज्ञानमित्यर्थे निष्पाद्यमाने तज्ज्ञानं ज्ञानकरणकत्वाऽभावेन न प्रत्यक्षात्मकमित्यनुमितिर्वा स्यात् शाब्दबोधो वा ? नाद्यः ! व्याप्तिज्ञानादेरभावात् । न द्वितीयः नोपकारज्ञाने पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तपदार्थज्ञानमुपयोगि, येन तद्द्वारीकृत्य पदज्ञानं शाब्दबोधं सम्पादयेत् । इतियत्तदपि निस्सारम् । ग्रहणपदस्यात्रादानोपलब्धिपरत्वेनैव स्वीकारात् एतस्य ज्ञानपरत्व एव शक्तिग्रहोनान्यपरत्वं इति नियमे मानाभावाच्च । नहि कुत्रचित् ग्रहणशब्दस्य ज्ञानपरत्वस्वीकारेऽपि सर्वत्राऽयं तत्पर इति केनापि वक्तुं स्वीकर्तुं वा शक्यम् ' यदाच तत्परस्यात्र ग्रहणमेव नास्ति तदा भवतामाक्षेपजातं जातमरण्यरुदितमेव ।

---

मनुने भी स्पष्ट रीतिसे बताया है " भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति " सर्वज्ञानमयो हि सः " अर्थात् जो कुछभी भूत, वर्तमान तथा भविष्यज्ञान है सभी वेदोंसे प्रसिद्ध हुआ है इस प्रकारकी अनेक श्रुतियां वेदोंमें विद्यमान हैं। इस लिये आपका उक्त आक्षेप सर्वथा आकाशमन्थनके तुल्य ही हुआ ।

९९ आगे आप फ़रमाते हैं ' ज्ञानसे यथावस्तूपकार ग्रहण ' इस वाक्य में ज्ञान तथा ग्रहण शब्द का एक ही अर्थ होनेसे इस वाक्यका मतलब ही कुछ नहीं होता ! यहभी इतना कथन जरा विद्वान लोग विचारें। कि ग्रहण शब्दका ज्ञान अर्थ कैसे हो सकता है । और यदि क्वचित् ज्ञान परक इस शब्दका प्रयोग हुआभी हो यह मानभी लिया जाय तो सर्वत्रही ग्रहण का अर्थज्ञान ही लेना चाहिये इसमें क्या प्रमाण ? इसलिये सुप्रसिद्ध ग्रहणका आदान अर्थ ही लेना चाहिये इसमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं रहता ।

१०० यच्च "यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति " इति श्रुतिबलमादाय पराविद्याप्रयोज्यात्मज्ञाने सत्येव सर्वज्ञानसम्भवः, नापरा विद्याजनितात्मातिरिक्तवस्तुज्ञाने । तथाचोक्तलक्षणस्य विशेषभावप्रयुक्तविशिष्टाभावमादाय लक्ष्यमात्रावृत्तित्वे गोरेकशफत्वादिलक्षणवदसम्भवदोषदुष्टत्वात् इति प्रणयगादि तदपि न चारु । अन्यसाधनासम्भवत्वे, प्रोक्तस्य तात्पर्य्यविरहात् । नहि अनेन वचनेनान्यानि साधनानि व्यवच्छिद्यन्ते । नापि तेषामसम्भवत्वं प्रतिपाद्यते किन्तु साधारण्येनोत्सर्गमुखेन ब्रह्मपरिज्ञानेन सर्वज्ञानसद्भावो निष्पाद्यते । आश्चर्यम् ! भवद्भिः 'आत्मज्ञाने सत्येवेति" इत्यत्र एवकारः कुतः समुपलब्धः । नच न कामचारतः । श्रुतौतु 'एवेति' शब्दगन्धोऽपि न विद्यते । व्यर्थमेव किमर्थमुच्छृङ्खलसङ्कल्पबलेनैव मनोमोदकान्यास्वाद्यन्ते ?

१०१ अथ "सापरार्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्"।

---

१०० 'यस्मिन् ज्ञात इत्यादि' अर्थात् जिसके ज्ञात होनेपर सभीकुछ जान लिया जाता है ' इस श्रुति को लेकर परा विद्यासे होनेवाले आत्मज्ञानके होनेपरही सर्व ज्ञानका होना सम्भव है । अपरा विद्यासे जनित, आत्मासे भिन्न वस्तुके ज्ञान होनेपर नहीं इत्यादि कथनभी आपका असङ्गत है अन्य साधनोंके असम्भव होनेमें उक्त वाक्यके तात्पर्य के न होनेसे । भाई इस वचनसे अन्य साधनोंका व्यवच्छेद ( दूरीकरण ) नहीं होता नाही उनको असम्भव ठहराया जाता है किन्तु साधारणतया उत्सर्गमुखसे ब्रह्मके परिज्ञानसे सब जाना जाता है । इसी का प्रतिपादन किया है । आश्चर्य तो यह होता है आपने " आत्मज्ञाने सत्येव " इसपद में 'एव' कहांसे मिला लिया ? क्योंकि श्रुतिमें तो 'एव' इस शब्दका गन्धभी नहीं है क्यों व्यर्थ आपने अपने उच्छृङ्खल सङ्कल्प बलसे ही एव शब्दको मिलाकर मनोमोदक उड़ाने की कोशिश की ?

१०१ वहं 'परा' विद्या अर्थात् अपरासे कुछ उत्कृष्ट है ऐसा समझना चाहिये । यद्यपि इसमें संदेहका लेशभी नहीं है । क्योंकि मुण्डकोपनि-

यद्यपि नास्त्यत्र सन्देहलवोऽपि मुण्डकोपनिषद्यपि अनुपदमेव 'प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म इत्यादि वाक्यै रपरायास्तज्जनितफलस्य चास्थिरतां प्रतिपाद्य "सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्"। इत्यादिना परब्रह्मपरतया पराया एव प्रशंसनेनात्युत्कृष्टत्वबोधनात्। तथाऽपि स्वोक्तविरोधोऽपरिहार्य एवेति यदुक्तंतदपि न युक्तम्। 'तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्तीत्यादिग्रन्थेनोक्तार्थस्यैव प्रतिपादनान्न किमपि वैरूप्यं सम्भवति। एतेनैव 'तावद्विज्ञानस्य मुख्यत्वं प्रतिपाद्यानुपदमेवेश्वरानुभवस्य मुख्यत्वमुक्तमित्यादिकमपि परिहृतम्। वस्तुतस्त्विदन्त्वस्य महापण्डितस्य केवलं कच्चर्मोत्कीलनमेव। विद्याविभागेन तु परापराभेदेन भिद्यमानमीश्वरीये वेदाख्ये द्वैविध्यं सर्वतार्किकाणामभिमतं किन्तु विषयमुद्रया तस्य विज्ञानकर्मोपासानाज्ञानभेदस्य चतुष्ट्येऽपि न कस्यापि विमतिः। सत्येवं कथन्नामात्र वैरूप्यं सम्भवितुमर्हति यदि नाम परापराभेदेन व्यपादिश्यमानायां विद्यायाम्

---

षत्में भी उसी प्रकारका वर्णन है "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" इत्यादि अर्थात् ये यज्ञरूप साधन कमजोर हैं। इसकी अस्थिरताका प्रतिपादन करके 'सदसद्वरेण्यं' इत्यादि वचनद्वारा परब्रह्मपरक होनेसे परा को श्रेष्ठ बताया है तथापि स्वामीजीके लेखमें विरोध तो अपरिहार्य ही है। उसका परिहार नहीं किया जा सकता। आपका यह कथन भी उपयुक्त नहीं। क्यों कि इसका तो पहिलेही 'तत्रापि ईश्वरानुभवो मुख्योऽस्तीति, इत्यादि ग्रंथसे प्रतिपादन ( समाधान ) कर चुके हैं। जिससे किसी प्रकार भी विरोध नहीं आता। इसीसे 'तावद्विज्ञानस्य मुख्यत्वं प्रतिपाद्यानुपदमेवेश्वरानुभवस्य' इत्यादि बातोंका समाधान स्वयंही हुआ समझना चाहिये। वास्तवमें पण्डित घनश्यामजीका यह बालकी खाल निकालनेके सदृशही है। क्योंकि विद्याको दो विभागों ( परा तथा अपरा ) में विभक्त करना, सबको अभिमत है। किन्तु विषयभेदसे वेदमें चार

नैतत्काण्डचतुष्टयस्य समावेशः स्यात्तदान्वेष विनियोगः कथञ्चिं-द्विनियुज्येत परं यदा नास्त्यत्रतस्य लवोऽपि तदा कथङ्कारमिवेयं भवता मुक्तिर्युक्तियुक्ता भवितुमर्हति । न कथमपीति दिक् ।

१०२ किञ्च " यदिदं श्रुतौ ब्रह्मचर्यपदोपादानमुपलक्षणार्थतया प्रतिपादितं स्वामिभिः तन्न युक्तिसहं प्रतीयते। यतो हि ब्रह्मचर्यपदेन वशित्वमेवात्र प्रतिपाद्यते वशित्वञ्चेन्द्रियनिग्रह एव सम्भवति, इन्द्रियनिग्रहश्च सतृष्णस्य विषयोपलिप्तस्य पुरुषस्यासम्भवी, तथाचोप लक्षणप्राप्तस्य गृहस्थाश्रमादेर्न साक्षादुपयोगित्वमात्मज्ञाने, विषय-वितृष्णस्यैव शमदमादिसाधनसम्पत्तिवतस्तत्राधिकारात् । अतः ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थमागतानां गुरुसन्निधाविन्द्रविरोचनादीनामाख्या-यिकासु ब्रह्मचर्यानुष्ठानं ब्रह्मविद्याङ्गतयाश्रूयते इत्यादिकं यदनल्पं कल्पितन्तदपि अतात्विकम् । तथा सति ब्रह्मचर्येतराश्रमाणां ब्रह्म-

विषय होनेमेंभी किसीका विरोध नहीं ! फिर सर्वतंत्र सिद्धान्तके विष-यमें मतभेद प्रकट करना घनश्यामजीके सिवाय और किसको पसन्द होगा !

१०२—किञ्च श्रुति में जो ब्रह्मचर्य पदको स्वामीजीने उपलक्षणार्थ बताया है वह युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता । क्यों कि ब्रह्मचर्य पद के अर्थ वशी के हैं और वशित्व इन्द्रियनिग्रह ही से सम्भव है । इन्द्रिय निग्रह सतृष्ण ( तृष्णावाले ) पुरुष के लिये असम्भव है । अतः उप-लक्षणप्राप्त गृहस्थाश्रम धर्म्मादि का आत्मज्ञान में कोई साक्षादुपयोगी नहीं क्यों कि विषय में वितृष्ण हुए शम, दमादि साधन सम्पत्ति युक्त को ही उसमें अधिकार है अन्यको नहीं । इसलिये ही ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये आये हुए इन्द्र विरोचन आदिकों की आख्यायिका में गुरुने ब्रह्मविद्याके अङ्गभूत होने के कारण उनको प्रथम ब्रह्मचर्य का ही उपदेश दिया है " इत्यादि घनश्यामजी का कथन भी अतात्विक है । यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो ब्रह्मचर्याश्रमसे भिन्नाश्रमियोंको ब्रह्मविद्या न प्राप्त होने

र्विद्यानवाप्तेरसाङ्गत्यप्रसङ्गात्। तत्तदाश्रमावलम्बिनामपि ब्रह्मविद्या-विज्ञत्वप्रसिद्धत्वाच्च। यथा जनकादेः। इदमत्र बोध्यम्। यदि-नाम 'ब्रह्मचर्य्यस्यैव मुक्तिप्रयोजनता प्रतिपादिता भवेत्' तर्हि कथङ्कारमिदं स्मर्येत "मोक्षाश्रमश्चतुर्थो वै यो भिक्षोः परिकीर्त्तितः इति ब्रह्मचर्य्याश्रमेतरस्य मोक्षाश्रमस्य प्रतिपत्तिः कथमुपपद्येत! नच गृहीणां पुत्रपौत्रकलत्रादिषु संलग्नमनस्कानां तादृशं कर्मसुकर-मिति वाच्यम्। तादृशोपदेशस्य वैय्यर्थ्यप्रसङ्गात्। उपदिशन्तिच बहुशः स्मृतयः। "स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभतेनरः" अपिच "तत्वज्ञाननिष्ठोहि गृहस्थोऽपि विमुच्यते" इत्याद्याः। भग-वन् भवत्पक्षाङ्गीकारेत्विमा सर्वा अपि स्मृतयो व्याकुप्येरन् जनकप्र-भृतीनाञ्च निदर्शनानि सर्वजनीनानि। यत्र चेदमुदाहृतं भवति "कर्मणैव च संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इति तस्मात् तत्र

---

से असङ्गति दोष का प्रसङ्ग होगा। क्यों कि ब्रह्मचर्याश्रम के अतिरिक्त भी अन्याश्रमियों का ब्रह्मज्ञानी होना सुप्रसिद्ध है। जैसे कि जनक आदि। वास्तव में बात यह है। यदि केवल ब्रह्मचर्य को मुक्ति के प्रति कारणता मानी जाय तो नीचे लिखे हुए वाक्यों की सङ्गति कैसे बैठेगी जिसमें साफ़ बताया है "मोक्षाश्रमश्चतुर्थो वै यो भिक्षोः परिकी-र्तितः।" अर्थात् मोक्षाश्रम चौथा आश्रम है जो कि सन्यासियों के लिये है। आपके कथनके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रमसे इतर आश्रमों के लिये मोक्षप्राप्ति किस प्रकार सुसङ्गत होगी। और यदि आप यह कहें कि पुत्र पौत्र कलत्रादि कों में फसे हुए लोगों के लिये ब्रह्मविद्याप्राप्ति दुष्कर है अतः वे इसके अधिकारी ही नहीं तो ठीक नहीं। कारण ऐसा मान-नेपर "स्वे स्वे कर्मणि तत्परः संसिद्धिं लभते नरः" अर्थात् मनुष्य अपने अपने आश्रम धर्म्मों में निरत हुआ ही सिद्धको प्राप्त करलेता है। "तत्वज्ञान निष्ठाहि गृहस्थोऽपि विमुच्यते" अर्थात् तत्वज्ञाननिष्ठ गृहस्थ भी मुक्त होजाता है अनेक श्रुति स्मृति इसप्रकार का

निखिलाश्रमिणामधिकारे निष्पन्ने महर्षिप्रतिपादितब्रह्मचर्यपदस्यो-
पलक्षणार्थत्वं सुतरां निरपवादम् ।

१०३ यच्च 'वेदपदेन वेदैकदेशा उपनिषद एव ग्राह्याः । तासामपि वेदान्तर्गतत्वात् । अतएव 'तत्रापरा' इत्युक्त्वा ऋग्वेदादेरेवापराविद्यात्वमुद्दिश्य, अथ परेति पराविद्याप्रतिपादनावसरेऽन्यतमस्य वेदस्य ग्रन्थान्तरस्य वोपादानमकृत्वैव 'यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्युक्त्वा ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूताया एव पराविद्यात्वमुद्दिष्टम् । साच यत्र तत्र ऋग्वेदादिष्वेव प्रतिपादिताऽस्ति योऽयं वेदेष्वध्यात्मनिरूपणपरो भागः स उपनिषद्रूप एव । तथा यजुषां चत्वारिंशत्तमेऽध्याय एवेशावा

---

उपदेश दे रही हैं आपका पक्ष माननेपर यह उपरि वर्णित सभी वचनोंपर दोषारोपण हो जायगा । और जनकादि की सिद्धि तो सर्वलोक विदित है 'कर्मणैव च संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।" अर्थात् जनकादि राजाओंने कर्म से सिद्धि प्राप्त की है । जब उक्त प्रकार से सभी आश्रमियों का ब्रह्मविद्यामें अधिकार होनेसे मोक्षमें भी अधिकार है फिर ऋषि के लेखपर किसप्रकार आक्षेप हो सकता है । इसलिये स्वामीजी महाराजका कथन बिलकुल यौक्तिक है ।

१०३ और 'वेदपदसे वेदके एक देश उपनिषद्का ही ग्रहण करना चाहिये क्यों कि वेभी तो वेदके अन्तर्गत ही हैं । इसलियेही 'तत्रापरा' इत्यादि कहकर ऋग्वेदादिको अपरा विद्या मानकर 'अथ परेति' इत्यादि पदसे परा विद्याका प्रतिपादन करते हुए किसी अन्य वेद अथवा ग्रन्थान्तरका उपादान न कर 'ययातदक्षरमधिगम्यते' जिससे उस अक्षरकी प्राप्ति होती है इस कथनसे ब्रह्म प्राप्तिमें साधनभूत परा विद्याकाही वर्णन है और उसका यत्र तत्र ऋग्वेदादिकों में ही प्रतिपादन किया गया है । जो भाग अध्यात्मका निरूपण करता है वही उपनिषद् रूपही ईशावास्यादि उपनिषद् रूप है । इत्यादि जो निर्णय किया है वह भी युक्ति

स्योपनिषदिति सर्वत्र बोध्यम् इत्यादिकं यन्निरणायि तदपि न हृदयङ्गमम् । निष्प्रयोजनत्वात् । यदा साक्षाच्छब्दतो वेद एवाम्नातस्तदा तदन्तर्गतोपनिषद्भागस्य सुतरामापातात्कृतमनेन श्रीमद्घनश्यामोपदिष्टेन द्राविडप्राणायामेन । अहो पाण्डित्यमस्य पण्डितपारीन्द्रस्य, नच नवालिशोऽप्येतद्विजानाति 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' इतिन्यायेन वेदग्रहणेनैव तदन्तर्गतोपनिषदां सुतरां ग्रहणं न्याय्यम् । तदत्र मुधैव तर्ककर्कशानुधावनेन किम् ?

१ किञ्च तद्विष्णोः परमं पदमित्यादि मन्त्रमुद्दिश्य, 'कथमियं श्रुतिर्वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्य्यमित्यर्थप्रतिपादने प्रकृतोपयोगिना स्यात् । नह्यत्र तादृशः कश्चिदप्युपलभ्यते शब्दो येनोक्तार्थप्रतीतिः सम्भवेदिति । नापि च तथाऽर्थो ध्वन्यते । अध्यात्मविद एव तत्सा-

---

युक्त प्रतीत नहीं होता । कारण कि इस प्रकारके उल्लेखका यहां कामही क्या था । निष्प्रयोजनही आपने इतने पृष्ट रंगडाले । कारण यह है जबकि साक्षात् वेद शब्दही पढ़ा हुआ है तब तदन्तर्गत उपनिषद्का भाग तो स्वयं आगया । इसलिये घनश्यामजीके इस द्राविड प्राणायामसे क्या प्रयोजन ! यह बात तो बालकभी जानते है 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' अर्थात् हाथीके पेरमें सबके पेर समाजाते हैं केवल वेदके ग्रहण करनेसे तदन्तर्गत उपनिषद्का भी ग्रहण हो गया । अतः इसविषयमें वृथा तर्कणा करना व्यर्थ है ।

१ किञ्च 'तद्विष्णोः' इत्यादि मन्त्रको लेकर आपकहते हैं कि वेदोंका ब्रह्मके प्रतिपादनमें तात्पर्य है इस बातको स्वामीजीने इस श्रुतिके द्वारा किस प्रकार सिद्ध किया यह बात समझमें नहीं आती क्योंकि इस मन्त्रमें तो कोईभी शब्द ऐसा नहीं मालूम होता जिससे उक्तार्थ की प्रतीति इस मंत्रमें सम्भव हो । और नाहीं वैसी ध्वनिभी इस मन्त्रसे निकलती हुई मालूम होती है । क्यों कि स्पष्ट रीतिसे इसमें तो यह बात बतायीगयी है कि आध्यात्मवादीही ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकते हैं इसलिये स्वामीजीने यहांके प्रकरणको

क्षादवगाहितुं क्षमा इत्यत्रैव श्रुतेस्तात्पर्यात् । अहो प्रकरणज्ञत्वं त्रिकालदर्शिनां स्वामिनामिति यत्तदपि न सङ्गतम् । एतेनवेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यस्य प्रतिपादनात् । नह्यविद्वांसो वेदानभिज्ञाः कर्हिचिद्ब्रह्म साक्षादवगाहितुं क्षमा । किन्तु वेदानधीत्य तत्प्रति पादितदिशैव ब्रह्मसाक्षात्कारस्य शक्यत्वात् तद्द्वारकतया तेषां ब्रह्म-ज्ञाने सुतरांतात्पर्यस्य भानाच्च । यदिमन्यसे न वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमस्तीति तर्हि कथं तदध्ययनज्ञानानुष्ठानेन तत्प्राप्तिः सम्भवा । यत्रेदमाम्नातः—

" तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः " इति तस्माद्वेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्य्यमस्तीति सुस्थम् ।

१ अथ श्रुतेस्तत्तदर्थप्रतिपादनायोपस्थापितेषु तेषु पदेषु क्रम-प्राप्तं ' आततम् ' इतिपदमुपस्थापयति कीदृशन्तत् ( आततम् )

---

न समझकर ही वैसा लिखमारा है " इत्यादि कथन भी घनश्यामजीका सङ्गत नहीं । कारण कि वास्तवमें इस श्रुति में यही बताया गया है वेदोंका तात्पर्य्य ब्रह्मके प्रतिपादन में ही है। अविद्वान् वेदसे अनभिज्ञ लोक तीनकालोंमेभी ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं किन्तु वेद पढ़कर और वेद में प्रतिपादित मार्गपर चलकर ही ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। इसलिये चूंकि ब्रह्मज्ञान वेदज्ञान के विना होना असम्भव है इसलिये उसके द्वारा ही ज्ञान होनेके कारण वेदोंका ब्रह्मप्राप्ति में तात्पर्य है यह स्वामी जी का कथन सर्वथा यौक्तिक है । आपके पक्षके अनुसार तो वेदा-ध्ययन वेदज्ञान एवं तदनुसार अनुष्ठानसे ही ब्रह्मप्राप्ति होती है इत्यादि अर्थ का प्रतिपादनकरनेवाली सभी ' तद्विष्णोः ' इत्यादि श्रुतियां असङ्गत हो जायंगी । इस लिये वेदोंका ब्रह्मज्ञान अथवा उसकी प्राप्ति में ही तात्पर्य है यह कथन बिल्कुल ठीकहै । इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं होसकता ।

१ श्रुति अर्थ करनेके लिये उनपदोंमें एक पद ' आततम् ' यह है इसका अर्थ यह है चारोंतरफ फैलाहुआ अर्थात् देशकालवस्तुपरिच्छेद

आसमन्तात् ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदेराहितमस्ति। अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्त्वात्। इति समुद्धृत्य 'देशाकालवस्तु' इत्यत्र वस्तुपदस्य निष्प्रयोजनत्वं प्रदर्श्य 'अतः' इतिपदस्य साकाङ्क्षतया, आकाङ्क्षा चात्र हेतुस्वरूपैवेति निर्णीय 'देशकालादिपरिच्छेदराहित्यमेव हेतुत्वेनोपन्यस्यच 'सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते' इत्यत्र उपलब्धिः प्रत्यक्षात्मिका वास्यात् प्रत्यक्षाद्यन्यतमरूपा वेति यत्पृष्टं न तदपि साम्प्रतम्। तत्र साधारण्येनैव तत्प्रयोगात्। अविशेषधियैवेतत्प्रयुक्तम्। यत्सर्वोऽपि साधारणो जन स्तस्य व्यापकत्वं जानाति। चेत्काकदन्तपरीक्षणन्यायेन पृच्छ्यते तदाऽपि न कश्चिद्दोषः। सर्वशब्देनात्र तदुपलब्धुं शक्त एव परामृश्यते। एवं हि यैरुपलब्धुं शक्यते तैरेव तदुपलभ्यत इति सर्वमवदातम्। तस्मादत्र ब्रह्मणोऽतीन्द्रियत्वादि चर्चाऽपि न रुचिकरा, असाङ्गत्यप्रसङ्गात्। नच कर्हिचित्तदतीन्द्रिय-

---

रहित इसलिये सर्वत्र उसकी प्राप्ति हो सकती है क्योंकि वह ब्रह्म विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है। इत्यादि स्वामीजी के कथन में वस्तु पद को निरर्थक सिद्ध करके 'अतः' इसपदके साकाङ्क्ष होनेसे, और आकाङ्क्षा यहां हेतु स्वरूपही हो सकती है ऐसा निर्णय करके 'सर्वत्र वह प्राप्त हो सकता है' यहांपर प्राप्ति साक्षात् रूपही है या किसी दूसरी किस्म की यह प्रश्नभी आपका बड़ा विलक्षण है। क्यों कि वहां तो साधारणरीति सेही वैसा प्रयोग दिया है अर्थात् सर्वसाधारण सभी उसकी व्यापकता का ज्ञान रखते है। इसपर भी यदि आप काकदन्तपरीक्षणन्यासे पूछना चाहते हैं तो वैसे प्रयोगमें भी कोई दोष नहीं है। कारण सर्व शब्दसे यहां उन्हींका ग्रहण हो सकता है जो ब्रह्मप्राप्तिमें समर्थ हो अन्योंका नहीं इसलिये सब सर्वत्र उसको प्राप्त कर सकते हैं इस प्रयोगमें किसी प्रकारका दोष नहीं रहता। इसलिये आपकी यह चर्चा कि ब्रह्म अतीन्द्रिय होनेसे कैसे प्राप्तहो सकता है" रुचिकर नहीं प्रतीत होती क्यों कि यह सब यहांपर अप्रासाङ्गिक है।

त्वप्रतिपादनं तदुपलब्धिप्रति बाधकमस्तीतिवाच्यम् । तथा-सति-" रसो वै सः रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति " " सत्येन लभ्यः " " दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः " मनसैवेतदाप्तव्यम् " इत्यादीनि निखिलानि ब्रह्मदर्शनोपलब्धिप्राप्तिप्रतिपादककान्यौपनिषद्वचनानि प्रपीड्येरन् । तस्मात् तत्रोपलब्धिप्रयोगःस्थान एव नजात्वस्थान इति दिक् ।

२ एतेन ' सर्वैः सर्वत्र च तदुपलब्धौ मुक्तसंसारस्थयोः को विशेषः ' इत्यप्यपास्तं वेदितव्यम् ।

२ किञ्च " अतः इत्युक्त्वाऽपि पुनः तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् इत्युक्त्या यन्महर्षेः पाण्डित्यमाक्षिप्तं तदपि केवलं तस्य विक्षिप्ततोपजीवि । तत्परिपोषकत्वेनैवापेन्यासात् । नाऽयंहेतुविकल्पो नापि तत्समुच्चयः किन्तु तद्दार्ढ्यपरस्तमेवार्थं दृढयन्नाहेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

---

अन्यथा ' रसो वै सः ' इत्यादिमें अर्थात् वह ब्रह्म रस है और रसकोही प्राप्तकरके जीव आनन्द पाता है । ' दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः ' अर्थात् सूक्ष्म बुद्धिसे उसकी प्राप्ति होती है । ' मनसैवदाप्तव्यम् ' इत्यादि सभी विधियां प्रतिकूल पडेगी । इसलिये 'उपलब्धि' इस शब्दका प्रयोग ठीकही है बेठीक नहीं ।

१—इसीसे ' सर्वैः सर्वत्र च तदुपलब्धौ ' इत्यादि अर्थात् यदि ब्रह्म सबको और सर्वत्रही प्राप्त होने लगा तो फिर संसारी तथा मुक्त पुरुष में क्या भेदरहा इत्यादि लेखभी घनश्यामजीका खण्डित हुआ समझना चाहिये ।

और ' अतः ' यह कहकर भी फिर ' विभुत्वात् ' इस महर्षिके प्रयोग पर जो आक्षेप किया है वह भी इनकी भूल ही है । पुष्टि तथा दृढताके लिये इनका प्रयोग किया गया है । नतो इसमें हेतु विकल्पही है और समुच्चयही किन्तु साधारणतया दृढताद्योतन के लियेही एसा किया गया है । अतः यह कोई दोष नहीं ।

१ ' कस्यां किमिव ' अत्र सादृश्यं, उपलब्धिर्वा ? व्याप्तिर्वा ? यथा चन्द्रवन्मुखमित्यत्र चन्द्रगताह्लादकत्वादिसादृश्यं मुखे प्रतिपाद्यत इति विशिष्टं मुखं चन्द्रश्च विशेषणम्। तथा प्रकृते कथं स्यादिति ? उभयश्चैतत्प्रकरणादेवोपलभ्यते " अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव ? ( दिवीवचक्षुराततम् ) यथा दिवि चक्षुराततमुपलभ्यते तथैव विस्तृतं ब्रह्म सर्वत्रोपलभ्यते ' इत्यर्थः सम्पद्यते । नचायं सम्भवति। इन्द्रियस्य चक्षुरादेरतीन्द्रियत्वात् । अन्यथा चक्षुरादिग्रहणायेन्द्रियान्तरत्वकल्पने तत्राप्यन्यत्तत्राप्यन्यदित्यनवस्थापातः । शास्त्रविरोधश्च। द्वितीयपक्षे यथा दिवि चक्षुर्विस्तृतं भवति तथा ब्रह्मापि विस्तृतं व्यापकमित्यर्थः। इत्येषोऽर्थः सम्पद्यते। तथा चायमपि पक्षो नगरीयानाभाति। इन्द्रियस्य व्यापकत्वासम्भवात्। व्यापकत्वं हि मूर्त्त

---

१ " कस्यां किमिव " यहां ' इव ' का अर्थ सादृश्य है उपलब्धि है यथा व्याप्ति ? जिस प्रकार ' चन्द्र के समान मुख है इसमें चन्द्रमामें रहनेवाला आह्लादकत्व आदि गुण के सादृश्यका मुखमें प्रतिपादन किया जाता है इसलिये मुख विशेष्य और चन्द्र विशेषण है वैसे ही इस प्रकरण में यह नियम क्यों कर घट सकेगा क्यों कि दोनों इस प्रकरण से ही मिलते हैं ॥ और यहांपर ' अतः सर्वैः ' यहां से लेकर ' दिवीव चक्षुराततम् ' यहांतक ही स्वामीजीकृत वाक्यसमूह है। जिसप्रकार पहिले [ उपलब्धि ) पक्षके स्वीकार करने पर जैसा आकाशमें विस्तृत अर्थात् व्याप्त नेत्र प्राप्त होता हैं वैसेही सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म सबको मिलता है। यही अर्थ होसकेगा। पर यह अर्थ चक्षुरादि इन्द्रियोंके इन्द्रियज्ञानसे दूर होनेके कारण सम्भव नहीं है। अन्यथा चक्षुरादि इन्द्रियोंके लिये दुसरी इन्द्रियोंकी कल्पना करनी पड़ेगी उनको औरकी इस प्रकार व्यवस्था ठीक न बैठनेके कारण अनवस्था होगी। दूसरे पक्षमें जैसे आकाशमें चक्षु व्यापक होता है वैसेही ब्रह्म भी सब जगह

यावद्द्रव्यसंयोगित्वम् नच तदिन्द्रिये सम्भवति मनः परमाण्वादीनामपि प्रत्यक्षापातात् । किञ्चै तदर्थक एवायं दृष्टान्तः सर्वगते ब्रह्मणि समन्वेति नवेति तु स्वयमेव सुधीभिरीक्षणीयमिति यद्बुद्धिवैशारद्यं प्रदर्शितं न तदप्यनवद्यम् । कुतः । उच्यते । द्वितीयपक्षस्यैवात्र ज्यायस्त्वेन सामञ्जस्यात् । तत्रहि स्पष्टमेव 'चक्षुर्विस्तृत' मिति लिखितं नतु व्याप्तम् । न जाने कुतो भवता चक्षुषो व्यापकत्वमवलम्बितम् । चक्षुःशब्देन च नात्र नेत्रेन्द्रियविशेषो गृह्यते किन्तु सकललोकप्रकाशकं जगद्व्यापारनिर्वाहकं सूर्य्यज्योतिरेवतेनोपचर्यते । तदित्थमत्र नास्ति किमप्यनुपपन्नम् ।

---

व्यापक है यही अर्थ होगा परन्तु यह पक्षभी ठीक नहीं क्यों कि इन्द्रियोंमें व्यापकत्व धर्म्मका अभाव है व्यापकत्व उसी वस्तुमें हो सकता है जिसका संसारगत निखिल वस्तुओंसे संयोग सम्बन्ध हो जो इन्द्रियोंमें सम्भव नहीं । ऐसा माननेपर मनके परमाणुओंके प्रत्यक्ष होनेकी भी आपत्ति उपस्थित होगी । और पूर्वोक्त अर्थ वाला यह दृष्टान्त सर्व व्यापक विषयमें संघटित होता है या नहीं यह ज़रा विद्वान् लोगही विचारें इत्यादि कथन भी आपका अयौक्तिक तथा निस्सार है । क्योंकि । दूसरा पक्षही यहां पर श्रेष्ठ है । वहां स्पष्ट 'चक्षुर्विस्तृतम्' अर्थात् विस्तृत हुई चक्षुके सामने यही पाठ है किन्तु नजाने आपने कहां से चक्षुकी व्यापकता अव्यापकता का प्रश्न कहां से उठाया ? स्वामी जी का उक्तलेख से यही अभिप्राय है कि जैसे आकाश म विस्तृत चक्षु अर्थात् ज्योतिप्रकाश का सबको साक्षात् होता है इसीप्रकार विद्वान् लोगों को विष्णु के पद का साक्षात्कार होता है । अब बताइये क्या आपको इसमें क्या बाधा है ?

# —अथ कर्मकाण्डविषयः—

अथ "नैतेन विमा विद्याभ्यासज्ञानेऽपि पूर्णे भवतः, कुतः ? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात् । इत्यत्र 'किमिदं विद्याभ्यासज्ञानत्वं यस्य कर्मकाण्डमन्तरा पूर्त्तिर्नभवतीति जिज्ञास्यं किं प्रयोजनमालम्ब्य विद्याभ्यासज्ञानयोरेव कर्मकाण्डपूरकत्वमुपदर्शितम् किञ्च विद्याभ्यासज्ञानपूर्णत्वं साध्यं कृत्वा 'बाह्यादि' पदकदम्बकस्य हेतुत्वेनोपन्यासमुद्दिश्यातितरामाक्रन्दितं तदपि नितरां मन्दम् । कुतः ? । उच्यते । नहि विद्याभ्यासस्तज्जन्यज्ञानञ्च कर्हिचित्कर्मकाण्डादृते पूर्णं भवति, नच कर्मकाण्डशब्दोऽयं केवलमग्निहोत्रादिपरः किन्तु निश्शेषक्रियाकलापात्मकर्मपर इति तु पूर्वमेवोक्तम् । ज्ञानं यावत् क्रियापरिणतं क्रियात्मकं न स्यात्तावन्न तत्पूर्णज्ञानपदभाग्भवितु मर्हति । क्रियापरिणतत्वेनैवतत्पूर्त्त्युपपत्तेः ।

---

## अथ कर्मकाण्डविषयः

"इसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान भी पूर्ण नहीं होसकते । क्योंकि बाह्याभ्यन्तर (मानस) व्यवहार का बाह्य तथा अभ्यन्तर होना युक्त है ।" इस लेखमें यह मालूम होना चाहिये कि, विद्याभ्यास और ज्ञान कोनसी वस्तु है जिसकी कर्मकाण्डके विना पूर्त्ति नहीं होती नजाने स्वामिजीने किस बातको लेकर विद्याऽभ्यास एवं ज्ञानको कर्मकाण्डका पूरक बताया है । और विद्याभ्यास तथा ज्ञान पूर्णता को साध्य बनाकर 'बाह्यादि' को जो हेतु बनाया है इत्यादि घनश्यामजी का आक्रन्दन भी अतीव मन्द है, क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि विद्याभ्यास एवं विद्याभ्यास से प्राप्त हुआ ज्ञान कभी भी कर्मकाण्डके विना पूर्ण नहीं होसकता । विना कर्मकाण्डके केवल ज्ञान किस काम का ? घनश्यामजी ! कर्मकाण्ड शब्द केवल अग्निहोत्र आदि परकही नहीं हैं । किन्तु सम्पूर्ण क्रिया कला-

नहि क्रियापरिणतिमनुपपद्यमानं ज्ञानं पूर्णं जातमिति कस्याप्यानुभविकम्। एवंसति कर्मकाण्डमन्तरा विद्याभ्यासज्ञानयोरपूर्णत्वं प्रतिपाद्य किमत्याचरितं स्वामिना? एतेनैव बाह्यमानसव्यवहारयोर्मिथः सम्भूय कार्य्यकारितया, हेतुत्वमपिसुतरामव्याहतमितिध्येयम्।

किञ्च कर्मकाण्डभेदं लिलक्षयिषुर्महर्षेः "सचानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ तु मुख्यौ" इति वाक्यं पुरस्कृत्यात्रतुशब्दोऽपिशब्दश्च किंप्रयोजनताविति जिज्ञासाऽपि विदुषामुपेक्षणीयातुच्छत्वात्। 'तु अपि' शब्दौ तु विशेषप्रतिपादकाविति न कस्याप्यविदितम्।

१ किञ्च "ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्म्मानुष्ठानज्ञानेन" इत्यस्याः पंक्तेरर्थमाशङ्क्य द्वन्द्वान्तेश्रूयमाणस्य ज्ञानपदस्य प्रत्येका-

---

परूपी सकल व्यापारपरक है। इसलिये ज्ञान जबतक क्रियात्मक रूपसे आचरणमें न लायाजाय तबतक वह निष्फल होनेसे अधूराही है। इस लिये यदि ऋषिदयानन्दजीने कर्मकाण्डके विना विद्याभ्यास एवं तज्जन्य ज्ञान को अपूर्ण ही माना तो क्या अन्याय किया? इसीसे बाह्य मानस ज्ञानको परस्पर मिलकर कार्य कारितासे हेतु होना भी बिल्कुल अव्याहत है उसपर किसी प्रकारका दोष नहीं आता यह समझना चाहिये।

तथा कर्मकाण्डके दो भेद हैं इस बातको दर्शानेकी इच्छासे लिखे हुए स्वामीजीके 'सचानेकविधोऽस्ति' इत्यादि वाक्यको उद्धृतकर आप पूछते हैं कि इस वाक्यमें 'तु' तथा 'अपि' शब्द किस प्रयोजन के लिये रक्खे हैं। इन कीमती प्रश्नोंको भी तो विद्वान् लोग जांचें? सभी जानते हैं कि ये दोनों शब्द विशेषताप्रतिपादन के लिये ही लिखे जाते हैं। (परन्तु घनश्यामजीको तो काकदन्तपरिक्षाही सूझी हैन?)

किञ्च ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासनाज्ञापालन धर्मानुष्ठानज्ञानेन' इत्यादि पङ्क्तिके अर्थमें आशङ्का करते हुए आप फरमाते हैं द्वद्वान्तमें श्रूयमाण पदका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होनेसे उक्तपङ्क्तिका अर्थ ठीक नहीं बैठता

भिसम्बन्धश्च यदाक्षिप्तो न तदपि चारु। तादृशाक्षेपस्यात्र सर्वथा-नवकाशात् । तथाहि-स्तुत्याद्यनुष्ठान्तस्य द्वन्द्वं विधाय 'ईश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्म्मानुष्ठानमिति, 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्म्मानुष्ठानं, तस्य ज्ञानम्, इति समासविधया सर्वमवदातम् । नाऽत्र कश्चिच्छास्त्रविरोधः।

२ यच्च 'ईश्वरज्ञानं व्यापारीकृत्य भेदेन मोक्षसिद्धिरित्यहो दयानन्दस्य धाष्ट्र्यम् । भेदस्यैव मोक्षं प्रत्यसाधारणकारणत्वं ब्रुवता स्वामिना "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ' ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इत्यादिनानाश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितोर्थः सर्वथाप्युपेक्षित एवेति यस्स्पष्टोविरोधः प्रदर्शितः सोप्यकिञ्चित्करः। नहि क्वापि मुक्तिं प्रतिभेदस्यासाधारणकारणत्वमभीप्सितम् । अपि तु ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्यैवतत्प्रत्यसाधारणकारणत्वंसमुद्दिष्टं तच्च तर्कविदामङ्गी-

---

इत्यादि प्रश्न भी आपकी व्याकरण विडम्बनाको ही बतलाता है। यदि आपको समास आदिका ज्ञान होता तो कभी ऐसा न कहते। क्यों कि यहां तो स्तुतिसे लेकर अनुष्ठान पर्यंतका द्वन्द समास करके फिर 'ईश्वरस्य स्तुति' ईश्वरके साथ षष्ठीतत्पुरुष कर फिर ज्ञानके साथ सम्बन्ध किया गया है जिसका स्पष्ट यही अर्थ होता है कि ईश्वरकी जो स्तुति प्रार्थना उपासना आदि उसका ज्ञान। इस प्रकार इसमें किसी प्रकारकी भी वाधा नहीं आती।

और 'ईश्वर ज्ञानद्वारा भेदसे मोक्षसिद्धि होती है इस कथनपर आपने ऋषि दयानन्दकी धृष्टताका हाहाकार मचाया है कि देखो तो सही ऋषिने भेदकोही मोक्षके प्रति असाधारण कारण मान लिया है। 'तमेव विद्वित्वा' इत्यादि संस्कृतमें उद्धृत समस्त श्रुतियोंसे विरोध कर डाला इत्यादि घनश्यामजीका कथनभी अकिञ्चित्कर है। क्यों कि महर्षिने भेदको तो कहीं भी मोक्षका असाधारण कारण नहीं बताया। हां ज्ञानक कर्मके समुच्चयसेही मोक्षप्राप्तिका सर्वत्र उपदेश किया और यह बात

कृतमेवेति न कश्चनविरोधः । एवं मुक्तिं प्रत्युभयोरपि कारणत्वे सिद्धे कर्म्मकाण्डस्य तद्गतभेदस्य वा तत्वे स्वीकृते किं व्याहतम् श्रीमताम् ? नूनं केवलं तद्भेदस्यैवासाधारणकारणत्वं प्रतिपाद्यमाना श्रीस्वामिचरणा निगृहीताधृष्टा वा स्युस्तदभाव तु कथंनाम तत्पद-भाजोभवितुमर्हन्तीति सदन्तःकरणैर्विचारणीयं श्रीमद्भिरेवेति दिक् ।

२ किञ्च द्वितीयभेदमुद्दिश्य श्रीमद्दयानन्दस्याकाण्डे पाण्डित्य-प्रदर्शनं प्रदर्शितं तदपि नूनं कदलीदलायितम् । धर्म्मपूर्वकयोरेवार्थ-कामयोर्लोकव्यवहारसिद्धिं प्रति हेतुत्वस्य सर्वैसिद्धान्तितत्वात् । तस्मात् धर्म्मपदस्य प्रत्येकेनसहसम्बद्धत्वात् धर्म्मेणार्थकामौ निर्वर्त्त-यितुमितिवचनेन किमनुपपन्नम् । ' नच धर्म्मेणैवार्थकामसिद्धिरपि अभिचारयागादिना तत्सिद्धावपि स्वयं तस्यानर्थरूपत्वमेवेति " य-त्तदपि निरर्गलमप्रासङ्गिकश्चेति कृत्वोपेक्ष्य पक्ष एव निक्षेप्यो विद्वद्भिः ।

---

सभी तार्किक लोगोंकोभी स्वीकृत है । इस प्रकार जब मुक्तिके प्रति दोनोंकी कारणता सिद्ध है तो फिर कर्मकाण्ड अथवा तद्गत भेदको कारण माननेमें क्या हानि है । हां यदि केवल भेदकोही कारण मानते तबतो आपके कथनानुसार स्वामीकीजी धृष्टता होती किन्तु वैसा नकरने परभी जो आपने स्वामीजीकी धृष्टता बताई इससे तो आपकी ही धृष्टता सिद्ध होती है स्वामीजीकी नहीं ।

किञ्च दूसरे भेद पदको लेकर स्वामीजीने बेजा पाण्डित्य दिखाया है यहभी आपका कथन व्यर्थ ही है क्यों कि धर्म्मपूर्वक अर्थ काम लोक सिद्धि के हेतु माने गये हैं । इसी धर्म्म पदका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है । इसलिये धर्म्म से अर्थ कामकी सिद्धि करनेके लिये इस वाक्य में कुछभी दोष नहीं । और आपका यह कथनभी " कि धर्म्म से हीं अर्थ काम की सिद्धि हो जायगी अभिचार यागादि से उसकी सिद्धिमें उसका अनर्थरूप ही होगा " बिल्कुल अप्रासङ्गिक है अतः त्याज्य है ।

१ अपिच 'स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदायं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते" इत्यत्र प्राप्तिपदार्थः संयोगपर उत ज्ञानपर इत्याकाङ्क्षायां ब्रूमः। ज्ञानपर इति। बुद्ध्युपलब्धिज्ञानानामनर्थान्तरत्वस्य सर्वशिष्टसम्मतत्वात्। यच्चज्ञानपरत्वाङ्गीरे परमेश्वरज्ञानस्य फलत्वानिष्पत्तिमुद्दिश्य तदशेषविशेषं 'मुक्तिनिरूपणावसरे वक्ष्याम' इति प्रतिज्ञातं तदर्थं वयमपि सज्जिता बद्धपरिकराश्च तत्रैव प्रतिवक्ष्यामः।

२ किञ्च फलोद्देशेन क्रियमाणस्य कर्मणः कथं निष्कामत्वम्? इति पृच्छाऽपि नितरामस्याबोधबोधिनी। काम्यलौकिककर्मभिन्नानां पारलौकिकफलोद्देशानां कर्म्मणामेव निष्कामत्वस्याङ्गीकारात्।

---

और 'वह जब परमेश्वर की प्राप्तिरूप फल को लक्ष्य में रखकर किया जाता है। तभी वह यज्ञ श्रेष्ठ फलसे युक्त हुआ निष्काम संज्ञा को प्राप्त होता है" इस वाक्य में प्राप्ति शब्द के अर्थ संयोग के हैं अथवा ज्ञान के? आपके इस प्रश्न के उत्तरमें हम कहते है यहां प्राप्ति के अर्थ ज्ञान के हैं ईश्वरप्राप्ति अर्थात् ईश्वरज्ञान। क्यों कि सभी शिष्ट लोग बुद्धि उपलब्धि तथा ज्ञान की समानार्थकता को मानते है। आगे घनश्यामजी फ़रमाते हैं कि यदि प्राप्तिका अर्थ ज्ञान लेते हो परमेश्वर के ज्ञान से फलकी असिद्धि होगी इत्यादि सविस्तर हम मुक्तिप्रकरणमें ही कहेंगे। इसके उत्तरमें हम विशेष क्या कहें इतना ही काफ़ी है। कि हमभी उसका प्रतिवाद वहीं करेंगे।

किञ्च फलकी इच्छासे किया हुआ काम किस प्रकार निष्काम हो सकता है यह प्रश्नभी आपके अबोधका ही द्योतक है। क्यों कि काम्य-लौकिक कर्मों से भिन्न केवल पारलौकिक फलही है उद्देश जिनका ऐसे कर्म्मों को ही निष्काम कर्म कहा जाता है। अन्यथा निष्काम कर्म का प्रतिपादन करनेवाली सभी श्रुतियोंसे विरोध होगा। क्यों कि विना

अन्यथा निष्कामकर्मप्रतिपादिन्यो निखिला अपि श्रुतिस्मृतयो व्याकुप्येरन् ।

३ नच 'अस्य खलु अनन्तसुखेन योगात्' अनन्तसुखयोगत्वे त्वदभिमतमुक्तेरावृत्तिर्नेष्टा, इत्यपि युक्तं । बहलार्थकस्यानन्तपदस्यैवात्राभिमतत्वात् । तथा 'चानन्तं सुखञ्चास्य वर्त्ततेऽनन्तं दुःखञ्चास्य वर्त्तते' इत्याद्यनेकधाः तदर्थपरत्वमनन्तशब्दस्य श्रीमत्स्वामिभिः स्वयमेव निरणायि ।

किञ्च 'अग्निहोत्रादेरश्वमेधपर्यन्तवैदिककर्मणो वायुवृष्ट्यादि शुद्धिमात्रप्रयोजकतयैवोपयोगप्रतिपादको मीमांसादिनिरूपितार्थविरोध्यर्थक इति त्वत्प्रदर्शितविरोधोऽपि न समञ्जसः । वायुवृष्टिजलादिशुद्धिकरणार्थकहोमद्वारा निखिलप्राणभृतां सुखविशेषस्य

---

फलके अथवा कामना के कोई कामही जगमें नहीं होसकता । इस लिये निष्काम कर्म से केवल लौकिक कामनाओंकेही अभावका प्रतिपादन किया गया है । अन्यथा कोई कामभी निष्काम नहीं रहेगा निष्काम शब्द ही व्यर्थ होजायगा ।

आगे चलकर घनश्यामजी लिखते हैं । " अस्य खलु अनन्तसुखेन योगात् " इस वाक्यमें स्वामीजीनें अनन्त सुखका योग बताया है जिससे सिद्ध हुआ कि यहां उन्होंने मुक्तिसे अनावृत्ति मानली । " यह कथनी अयुक्त है क्यों कि अनन्त शब्द प्रायः लोकमें बहुत्ववाचक है । जैसा कि स्वामीजी महाराजने ' स्वयं ' लिखा है कि ' इसको तो अनन्त सुख है अर्थात् बहुत सुख है । इस लिए आपका उक्त आक्षेप ठीक नहीं ।

अग्निहोत्रादिसे लेकर अश्वमेधपर्यंत वैदिक कर्मोंका केवल वायु वृष्टि आदिको शुद्ध करनेवाली होनेसे मीमांसा आदि शास्त्रोंसे विरोध आवेगा । क्यों कि मीमांसादि शास्त्रोंमें अग्निहोत्रका अन्यही फल दिखलाया है इत्यादि कथनभी घनश्यामजीका यौक्तिक नहीं है कारण कि अग्निहोत्रसे वायुजलादिकी शुद्धि द्वारा उत्तम औषध अन्नादिके उत्पन्न होनेसेही तो

सुतरां सम्भवात्। मीमांसानिरूपितार्थस्यापि चात्रैवोक्तार्थे पर्य्यवसानान्न कश्चिद्विरोधः।

२ किञ्च-द्रव्याणामुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं परस्परं संस्कारः कर्त्तव्य इति भूमिकार्थं दूपयन् यदाह 'सुगन्धादिगुणयुक्तानि भवतैवहितानिद्रव्याणि अभिहितानि पुनस्तेषां कीदृगिदमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनम्? उत द्रव्यस्यैव गुणत्वं सम्पाद्यते? कथञ्च किञ्चिदसम्भाव्यं सर्वशक्तिमत्वकल्पानां योगिनामिति तदपि तस्य बाललीलायितमेव। संस्कृतद्रव्याणां हि यज्ञादिषु विनियोगादुपयोगाच्च। संस्कृत्यैव द्रव्याणि यज्ञादिषूपयुज्यन्ते न कर्हिचिदसंस्कृत्य। संस्कारश्च तेषां दलमलापनयनादिना सर्वजनीनस्सएवात्र गुणसम्पादनपदेनाभिधीयते न किञ्चिद्विलक्षणं यदुद्दिश्यात्रभवानेतावानाश्चर्यवान् सञ्जातः?

---

मनुष्योंको सुखकी प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं। मीमांसादि शास्त्रोंमें यदि स्वर्गादि सुखविशेषोंकी प्राप्तिही अग्निहोत्रका फल बताया है तो हमारे पक्षका साधकही है बाधक नहीं इससे स्वामीजीमहाराजके उक्त लेखसे मीमांसा आदिका कोई विरोध नहीं है।

"द्रव्यसंस्कारकर्मसु" स्वामीजीके इस लेखपर 'यज्ञमें सञ्चित सुगन्धित द्रव्यों का अच्छेसे अच्छा लाभ उठानेके लिये खूब शोधन करना चाहिये क्यों कि असंस्कृत (जो साफ न हो) द्रव्योंसे अधिक लाभ नहीं होता आप लिखते हैं पदार्थों के उत्तम उत्तम गुणों का सम्पादन कैसे किया जाय? योगियोंकी शक्ति असम्भाव्य है कहीं द्रव्यों काभी संस्कार होता है? यहभी इनका कथन नितान्त लड़कपनका है क्योंकि हरेक जानता है असंस्कृत द्रव्योंका यज्ञमें विधान नहीं। संस्कृत शुद्ध द्रव्यही यज्ञमें काम आते हैं। और द्रव्योंका संस्कारही क्या यही झाड़ना पछोड़ना चुनना बिनना आदि यह बात सभी जानते है। द्रव्यों की शुद्धि ही यहांपर उनमें गुण सम्पन्न करना है अन्य कोई विलक्षण संस्कार नहीं जिसको लेके आप इतने आश्चर्य में पड़ गये महात्मन्!

१ अथ नानाद्रव्याणां मिथो मेलनेन कश्चिदपूर्वः प्रभावस्तत्राधीयते ? इति कथमपि न सम्भवति इत्युक्त्या तु श्रीमता फुक्कुटपाद मिश्रोप्यवधीरितः । तत्किमत्र वयं प्रतिवदामो विक्षणाः स्वयमेव प्रणिभालयन्तु ? नानाद्रव्यसम्मेलनेन कोऽप्यपूर्वः प्रभावो भवति न वा ?

१ किञ्च 'यदिदमनुपदमेव त्वया किञ्चिदुदाहरणं प्रादर्शि तत्कस्मिन्नर्थे पर्य्यवस्यतीति ? उपक्रमे तु मिथः सम्मिश्रणात्मकसंस्कारदार्ढ्यायैव तदुपादानमिति प्रतीम, उपसंहारश्च पुनः "तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते" इत्यादि ग्रन्थेव वाय्वादिशुद्धिद्वारा तत्सर्वजगतः सुखकरमेवेतिप्रयोजनप्रतिपादकतयैव विहितः । एवमुपक्रमोपसंहारयोर्मिथो व्याहतार्थनिरूपकत्वाद् बालविजृम्भणमात्रमेवेति यदाह तदपि निरर्गलम् । एतावतोपक्रमोपसंहारयोर्भवत्कपोलकल्पितत्वात् । नह्यत्रोपक्रान्तः कर्मकाण्डविषय उपसंह्रियते अपि तु प्रसङ्गवशाद्य-

---

और नाना प्रकारके परस्पर मिश्रण से एक अपूर्व ही प्रभाव होजाता है । इसपर आपका कहना कि यह बात बिल्कुल असम्भव है केवल आपकी फुक्कुटमिश्रताका ही द्योतन कराता है इस लिये इसमें हम ज्यादा क्या कहें विचक्षण लोग स्वयं ही विचार लें ।

"इसके पश्चात् ही, इस उदाहरण का मतलबही क्या है । प्रारम्भ में आपने द्रव्यों के संस्कार पूर्वक मिश्रणपर ज़ोर दिया और अब समाप्तिमें 'यज्ञसे जो सुगन्धि फैलती है उससे संसारमें सुखकी स्थापना होती है यह केवल उसका प्रयोजनही प्रतिपादन किया इससे उपक्रम तथा उपसंहार दोनोंमें विरोध आया" इत्यादि कथन भी स्वामीजी का बालविजृम्भण मात्र ही है । घनश्यामजी का यह कथन सङ्गत नहीं क्यों कि नतो उक्त लेखद्वारा स्वामीजीने उपक्रम ही किया और न उपसंहार किन्तु साधारणतया यज्ञमें कैसे पदार्थोंको लेना चाहिये और उनसे क्या लाभ

ज्ञादिफलं प्रणिगद्यते नजाने निद्रामुद्रितलोचनेन घनश्यामेन कथमिवोपक्रमोपसंहारयोः स्वप्नः समवलोक्यतेऽत्र ?

२ " गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः " इतिपाणिनीयानुशासनन्तु । अत्र प्रकरणे विस्मृतमेव दयानन्देनेति ? यत्तदपि घनश्यामस्य व्याकृतिबोधं विस्फोरयति । यत उक्तानुशासनेन तु बहुव्रीहिसमास एवेत्वं विधीयते नचात्र तथात्वमिष्टं स्वामिनां केवलमत्र तु गुणवचन एव सुगन्धशब्दः पठितः शोभनश्चासौ गन्धः सुगन्धः । न पुनः शोभनोगन्धोऽस्यास्तीति महात्मन् ? अन्यथा ' आघ्रायिवान् गन्धवहः सुगन्धः" इत्यादिमहाकविप्रयुक्तप्रयोगा अपि चिन्त्याः स्युः ।

३ किञ्च यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होताभवतीति " अत्र यज्ञोपीति पदं पूर्वेणान्वितमपि परत्र तदन्वयं विदधाति

---

होता है ! अथवा वे जगत् के लिये सुखकर क्यों हैं इस बातको ही बताया है । न जाने घनश्याम जी उपक्रम और उपसंहार का स्वप्न कैसे देखरहे है ।

'सुगन्धादिगुणाय ' स्वामीजी के इसप्रयोगपर यह कथन कि दयानन्द को इस प्रकरणमें व्याकरणका 'गन्धस्येदुत्पाति" इत्यादि सूत्र तो बिल्कुल भूलही गया था आपके व्याकरणबोधको प्रकट करता है। जनाबने अभी यह भी नहीं समझा कि यह सूत्र लगता कहां है ? श्रीमन् ! उक्तसूत्रसे तो बहुव्रीहि समासमें ही इत्वविधान किया जाता है जो कि अन्यपदार्थ प्रधान होता है । स्वामीजीको यहां वह इष्ट नहीं । यहां साधारण गुणवाचकही 'अच्छा गन्ध' का प्रयोग है द्रव्यवाचक नहीं । अतः इसमें कोई दोष नहीं । अन्यथा 'आघ्रायिवान्' इत्यादि बडे बडे महाकवियों के प्रयोग भी दूषित ठहरेंगे ! इसलिये यह आपका ही भ्रम है स्वामीजी का नहीं ।

" किञ्च यज्ञोऽपि " इत्यादि वाक्यमें स्वामीजीने 'यज्ञोपीति' इस पूर्वपदसे अन्वित वाक्यकाभी दूसरेके साथ अन्वय कर दिया । इस प्रकारका पाठ एतरेय ब्राह्मणमें बहुत जगह दीखता है । किन्तु स्वामीजी ने

एवंविधश्च पाठ ऐतरेयब्राह्मणे बहुत्र दृश्यते परं स्वामिभिर्द्वितीया-याध्यायगत एव स्वग्रन्थे समुद्धृतः। तत्र सर्वत्रापि 'यज्ञोपि, इति पदस्य पूर्ववाक्येनैवान्वयः। अयञ्च तत्रत्यः पूर्वापारब्राह्मणग्रन्थो विदुषां सौकर्य्यायाविकलमेवोद्ध्रियते इति तत्रत्यं ग्रन्थमुद्धृत्य महर्षिप्रणीतमर्थमाक्षिपन्नाह यद 'त्र' 'अमुना प्रकारेण' इति कोऽयं प्रकारोऽभिलक्षितः? किं यथा "सूपादीनीत्यादिना योऽयं प्रकारः प्रदर्शित स एव? उतान्यः? इत्यपि तस्य 'जिह्वास्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकीति वचनचारितार्थ्यमात्रमेव। तादृशाशङ्कायाः सर्वथाऽनवकाशात्। 'यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृत-द्रव्याणामग्नौ होमं करोतीत्यनेनैव सुतरां स्वयं स्पष्टीकृतत्वाच्च।

१ किञ्च "संस्कृत द्रव्याणामग्नौ होमं करोति' इत्यर्थः कुत उपलब्धः? किं होतृपदेनैवेतदपराद्धम्? श्रूयताम् नात्र होतृपदमग्नौ

---

द्वितीयाध्याय का ही पाठ उद्धृत किया है। विद्वानों की आसानी के लिये हम वहां का पाठ उतारे देते हैं। इत्यादि वहां के पाठका उल्लेख करके सिर्फ आपने पृष्ठ ही रंग दिये हैं। कोई मतलव हल नहीं किया। क्यों कि स्वामीजीने यहां केवल इस अभिप्राय से ही इसका उल्लेख किया है कि यज्ञभी जनता के हितके लिये ही होता है। यदि किसी प्रकारसे आप इस अभिप्रायको विरुद्ध ठहराते तो ठीक था परन्तु वैसा-न कर व्यर्थ वागाडम्बर रचमारा? स्वामी जी महाराज तो साफ कहते "वहीं यज्ञ जनताके हितके लिये हो तो हे जिसमें विद्वान होता होता है" क्यों कि विद्वान होता शुद्ध संस्कृत उपयोगी द्रव्योंका ही उपयोग करेगा इत्यादि।

और पं. घनश्यामजी के बुद्धि चमत्कार को तो देखिये आप कहते हैं "संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति" संस्कृत द्रव्योंसे अग्निमें होम करता है यह अर्थ स्वामीजी कहां से लाये? क्या होता पदकाही यह अपराध हुआ जो उसका आपने ऐसा अर्थ लगालिया? होता पदके यह

द्रव्यप्रक्षेप्तारं विधत्ते, अपि तु कारकसमाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगा-त्तथाभूतां समाख्यामादाय केवलं पूर्वप्रकृतार्थं प्रशंसन् तद्वेदनं प्रशंसति । अन्यथा नोपपद्यते, पाचकमानय पक्ष्यति लावकमानय लविष्यति, इति लोकव्यवहारः । यतो हि न तत्र तदानीं पाककर्तृत्वं विधीयते तदेवमसारतर्कसङ्घटितत्वादनुपादेय एवायमर्थ"इत्याशङ्कयतु भवद्भिरतितरां पाण्डित्यं प्रदर्शितम् ? महात्मन् ? किमत्र विशिष्टं प्रतिपादितं श्रीमता ? श्रीस्वामिचरणैः क्व प्रतिपादितं यदमुककाला-वच्छेदेनैवाग्नौ संस्कृतद्रव्यप्रक्षेपणानुकूलव्यापारवानेव होतृपद-व्यपदेश्यो भवतीति ? महाशय ? सर्वत्राप्येतादृशेषु स्थलेषु तत्तत्सं-वेदनमेव प्रशंसन्ति। अन्यथा तत्तत्क्रियाकलापानुष्ठानकालान्यकाले तादृशवाच्यवाचकभाव एव प्रपीड्येत ।

---

अर्थ नहीं कि अग्निमें द्रव्य डालनेवाला । किन्तु यह पद कारक समाख्या हेतुका तीनों कालों से योग होनेके कारण केवल संज्ञाको लेकर पूर्व प्रकृत्यर्थ की प्रशंसा करता हुआ उसके ज्ञानका बोध कराता है।अन्यथा 'पाच-कमानय पक्ष्यति' पाचकको लाओ पकायगा इत्यादि लोक व्यवहार न च-लेगा । क्यों कि उसके संज्ञाकालमें पाककर्तृत्व ( भोजन पकाना ) का वहां विधान नहीं इसलिये ( भोजन पकाना का वहा विधान नहीं इसलिये निस्सार तर्क होनेसे ) यह स्वामीजीका लेख सर्वथा अनुपादेय है " इत्यादि कथनसे भी घनश्यामजीने अपनी अक्लमन्दीही दिखलायी है । महात्मन् इसमें आपनेही क्या विशेषता की यह तो सभी जानते हैं कि समाख्या अथवा संज्ञाद्वाराही पदार्थोंका बोध हुआ करता है । नकि जिस अर्थको वह प्रतिपादन करता है साथही साथ उसी कालावच्छेदसे उसकी क्रिया-कलापकाभी बोध ? अन्यथा वाच्य वाचकभावही नहीं बन सकेगा । इस लिये स्वामीजीका यह लेख ( होता अर्थात् संस्कृत द्रव्योंको अग्निमें होम करनेवाला ) नितान्त युक्तियुक्त है । केवल इस वाक्यसे होताकी व्याख्याकी गई है ।

२ किञ्च द्वितीयसूत्रार्थविचारावसरेऽपि-"तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणाञ्च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्म्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्म्मो जायते" इति समुद्धृत्य 'वस्तुतः सर्वमिदं साहसमात्रमेव दयानन्दस्येति विन्यस्यैव तुष्टिमाप। अतश्चित्रं यतो भित्तिमन्तरेण नभवतीति कृत्वाऽस्माभिरपि विरम्यते। यच्चात्र शबरस्वामिविरचितभाष्यमुद्धृतन्तत्तुकेवलं ग्रन्थविस्तरफलकमेव। निष्प्रयोजनत्वात्। नहि तल्लेखोद्धरणमात्रेण महर्षिलेखनिराकरणं सुशकम्। स्वबुद्धिचमत्कारोऽपि प्रदर्शनीयः। किंमुधैव परस्कन्ध-मारुह्यैव जगद्विजेतुं सकामः सञ्जातो घनश्याम ?

१ अन्यच्च 'तत्र द्विविधो प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्चेति। ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च सनिरन्तरं

---

और द्वितीय सूत्रके विचारके समय "उसी प्रकार होमके लिये जो द्रव्य एवं पुष्पोंका संस्कार होता है वही क्रतुधर्म वाला होता है" इत्यादि वाक्यका उल्लेख कर ऋषि दयानन्दका वास्तवमें यह साहसमात्रही है केवल यह कहकर सन्तुष्ट हुए हैं। कोई वास्तविक तर्क दिखाते तो समाधानभी करते कहीं विना चित्रपटके चित्ररचना नहीं हुआ करती। और जो आपने शबर स्वामिके भाष्यका उल्लेख किया है वहभी केवल ग्रन्थविस्तारकी इच्छासे किया गया हुआ प्रतीत होता है। कारण कि यहां उसका कोई प्रयोजन नहीं दीखता। महाशय ! किसीके लेखका उद्धरण मात्रही किसीके खण्डनके लिये पर्याप्त नहीं होता। अपनी बुद्धिका भी कुछ चमत्कार दिखाते आपतो दूसरोंके कन्धोंपर चढ़करही जगत्का विजय करना चाहते हो ? ( ऐसा कभी हुआ है ? )

दो प्रकारका प्रयत्न है एक जीवकृत दूसरा ईश्वरकृत " इस वाक्यमें दो प्रकारका प्रयत्न बताया गया है" इसपर घनश्यामजीका कथन है कि यों तो तरह तरहके भेदको लेकर सहस्रों प्रकारके प्रयत्न हो सकते हैं ठीक नहीं। जीवत्वावछिन्न जितना प्राणि निकर है उन सबकी दृष्टिसे

सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति' इत्यत्र प्रयत्नद्वैविध्यमापादयन् यदाह घनश्याम 'एतच्चेदमादायानेकविधता किन्न स्यादिति' तदतिमन्दम्। जीवत्वावच्छिन्नयावज्जीवकृतत्वेन प्रयत्नस्य द्वैविध्यमेव सम्भवि, नत्वनेकविधत्वम्। न चैवं यत्नत्वसामान्ये न सर्वस्यापि यत्नस्यैकैव कोटिः किन्न स्यादितिवाच्यम्! प्रयत्नद्वैविध्यविवक्षायामेव वक्तुर्विशेषाकूतात्।

२ एवञ्चात्र प्रकरणे सुगन्धपुष्पादिश्चेतिपदस्य साधुत्वप्रयोजनत्व उभेऽपि नष्टे इति यत्तदपि न युक्तम्! तथात्वसिद्धौ मानाऽभावात्। तथा हि शोभनो गन्धः सुगन्धः सुगन्धश्च पुष्पादिश्चेति ततुरुषेण सर्वमुपपद्यते। सति बहुव्रीहिसमासेतु नूनमिदं चिन्त्यं स्यात्परं तदभावे तच्चिन्त्यमिति तु भवादृश एव कश्चित् महापण्डितः साधयितुमर्हति न तु कश्चित्साक्षरः।

३ अन्यच्च 'तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यमगुणौभवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्

---

दो प्रकारकाही प्रयत्न होना सम्भव है अनेकविध नहीं। यदि यह कहो कि प्रयत्न साम्यसे अनेक प्रयत्नोंकी जगह फिर एकही प्रयत्न क्यों न माना जावे तौभी युक्त नहीं। क्योंकि दो प्रकारके प्रयत्न बतानेमें विशेष प्रयोजन है। अर्थात् ईश्वरीय प्रयत्न तथा जीवकृत प्रयत्न। इन दोनों प्रकारके प्रयत्नोंमें विशेषता है इस लिये इसमें समता न होनेसे दोनोंकी एक कोटिमें गणना नहीं हो सकती।

इस प्रकार इस प्रकरणमें 'सुगन्ध पुष्पादिश्च' इस कथनसे प्रयोगकी साधुता तथा उसका प्रयोजन दोनोंही नष्ट हुए यह कथनभी आपका भ्रम पूर्ण ही है। क्योंकि यहांपर बहुव्रीहि समास नहीं कियागया। हां यदि बहुव्रीहि होता तो आपका प्रयोजन सिद्ध होसकता था। इस लिये उक्त समासके अभावमें भी कोई आप जैसा साक्षर ही इस प्रयोगको असाधु ठहरायेगा?

सुगन्ध दुर्गन्धिके योगसे जलवायु भी इष्ट अनिष्ट तथा मध्यमगुण वाले होजाते हैं" इसस्वामीजीके कथन कोभी दूषित ठराते हुए पूछते

इति श्रीचरणोक्तिं दूषयन्नसौ यत्प्राह ' सुगन्धदुर्गन्धस्य चाणवः कदाचिद्दयानन्देन दृष्टाः स्युः इति तु नितरामाश्चर्यास्पदम् । सुगन्ध-दुर्गन्धाणुसद्भावस्य सर्वप्रेक्षावत्साक्षिकत्वात् । बालोऽपि विजानाति यद्दुर्गन्धसुगन्धयोरप्यणवो भवन्ति किम्पुनः पक्वधियां कथा ? महात्मन् ! शास्त्राण्याकलय, बालिशत्वञ्चप्रक्षालय, ततः समा-लोचनमारचनीयम्,

१ किञ्च ' तज्जलवायू अपीदृगुणयोगान्मध्यमगुणौ भवतः " इत्य-नुपदमेव वक्ष्यमाणस्य ग्रन्थस्य सर्वथाप्यसङ्गतिः । तज्जलेत्यत्र हि तच्छब्देन तयो जलवाय्वोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् ' इति दयानन्द-हेतुबलमवलम्ब्य तादृशाणुसम्बन्धग्रहणे गन्धसमवेतपरमाणोः पृथिवीत्वात्, पार्थिवाणुसम्बन्धौ जलानलावित्येवबोधः । तथा च "तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेने" तिग्रन्थेन पार्थिवपरमाणो रस-

हैं " कि क्या सुगन्ध तथा दुर्गन्धके भी परमाणु होते हैं । विचारशील पुरुष ज़रा घनश्यामजीकेभी पाण्डित्यको तो देखें । दुनिया समझती है कि सुगन्ध दुर्गन्दकेभी अणु होते हैं पक्वबुद्धिवाले विद्वानों के विषयमें तो क्या ही कहना । किन्तु घनश्यामजी को इसमें शङ्का ही हारेही है ? क्यों नहो आप-श्याम ही ठहरे ! जनाब शास्त्रोंका पर्यालोचन कीजिये और इस बालिशत्वकी कालिमाको धो डालिये । फिर समालोचना करनेका साहस कीजिये ? ।

और " तज्जलवायू " इत्यादिसमीपका ही अग्रिम वाक्यभी सर्वथा असङ्गत है क्योंकि ' तज्जल वायु ' इत्यादि ऊपर कहे वाक्यमें तत् शब्द का क्या अर्थ है ? अर्थात् :' वायुके सुगन्ध दुर्गन्ध मिश्रित होनेसे " इस दयानन्दके कहे हुए हेतु बलका अवलम्बन करके हम यही कह सकते हैं कि ऊपर कहे ' तत् ' शब्दका अर्थात् सुगन्ध दुर्गन्ध अणुओंका जलवायुके साथ सम्बन्धही हो सकता है और गन्धवाले परमाणु पार्थिवही होते है । अतः उक्तवाक्य से यही बोध होता है

समवेतत्वोक्त्या जले वायौ वा कः प्रभावस्तस्य तच्छब्दार्थपार्थिवाणुवृत्तिरस्येति न विजानीम इति यदलितस्य प्रलाप तदुन्मत्तद्योतकम् । कुतः । श्रीचरणैस्तत्र स्पष्टमेव सुग्धेविस्पष्टत्वात् । तथा "तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यमगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वाद्बलबुद्धिवीर्यपराक्रमधैर्य्यशौर्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावादित्यादि । महानुभावा ! भवद्भिः स्वयमेव विचारणीयं किमतः परं सुस्पष्टतरं भविष्यति । परं घनश्यामस्तु श्यामिकाकुलनेत्रः सर्वत्रश्यामतामेव पश्यति ।

---

कि पार्थिव अणुसे सम्बन्ध जो जल वायु इत्यादि । ऐसा होने पर पार्थिव परमाणुके रसवाला होनेसे 'तस्य सुगन्ध दुर्गन्धाणु योगत्वेन इस ग्रन्थसे' तत् शब्दसे ग्रहण किये हुए पार्थिव अणु में रहनेवाले रस का जलवायुमें क्या प्रभावहुआ ! यह हमारी समझमें नहीं आया इत्यादि कथनभी । घनश्यामजी का उन्मत्तप्रतापके तुल्यही है । क्यों कि श्री स्वामीजी महाराजने तो स्पष्टही लिखदिया है कि सुगन्ध के योगसे जलवायुभी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध युक्त होजानेके कारण उत्तम तथा निकृष्ट गुणवालेहोजाते हैं । उस जलवायुसे युक्त औषधपाक होता है फिर वैसाही उसके सेवनसे रेतस् बनताहै रेतस के अनुसार शरीर आदि होते हैं यह सबको प्रत्यक्ष सिद्ध है । फिर उनमे यथागुण शौर्य बलवीर्य पराक्रम बुद्धि आदि पदार्थोंका सम्मेलन होता है बतलाइये इससे बढ़कर और सुस्पष्ट लेख क्या हो सकता है । परन्तु घनश्यामजी ने तो मीन मेष निकालनेका व्रतही लेलिया हुआ प्रतीत होताहै ।

# अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोऽयं वेदोनामेत्यादिना ग्रन्थेन महर्षेर्ब्राह्मणग्रन्थानामवेदत्वप्रतिपादनमुद्दिश्य प्रललाप यत्कोयं वेदोनामेति प्रश्नमुत्थाप्य यदिदमुत्तरितं दयानन्देन मन्त्रभागसंहितेति किमस्य तात्पर्यमिति ? अत्र पदे योऽयं भागशब्दः सकमर्थमाह इति। भागः, अंशः, अवयवः, इत्येते पर्य्याया एव तथा सति मन्त्रभागे वेद इत्युक्ते कस्य भागः इत्याकांक्षा जायते सा चांशिनमन्तराऽनुपपद्यमाना कमप्यंशिनमवयविनं वा कल्पयति। तस्य मन्त्रात्मकभागं विहाय कश्चिदन्योऽपि भागोऽस्तीति स्पष्टमेव विज्ञायते सच ब्राह्मणात्मक एवेति दयानन्दः स्वमुखेनैव ब्राह्मणानां वेदत्वमाह। अन्यथा सर्वेऽपि तन्मतानुयायिनः यथाकाममपि निरुक्तपदस्थभागशब्दस्य प्रयोजनं

---

# अथ वेदसंज्ञा विचार

"अथ कोऽयं वेदोनामेति" अब वेद यह क्या है इस ग्रन्थसे स्वामीजीने ब्राह्मण ग्रन्थोंको वेदसे पृथक् प्रतिपादन किया है इस प्रश्नको उठाकर आप प्रलाप करते हैं। 'यत्कोऽयं वेदो नामेति'। आपका आशय है कि वेद क्या है इस प्रश्नको लेकर जो स्वामीदयानन्दने उत्तर दिया है कि 'मन्त्रभाग संहिता वेद है' इसका क्या तात्पर्य है? इस पदमें भाग शब्द पड़ा है वह किस अर्थको कहता है भाग अंश अवयव ये पर्याय हैं। अर्थात् एकही अर्थको कहते हैं तो मन्त्रभाग वेद है इस कथनमें किसका भाग (अंश) वेद है ऐसी आकांक्षा होती है। और वह अंशी (अवयवी) के विना असंभव है अतएव अवयवीकी अपेक्षा रखती है। इसीसे मन्त्रभागको छोडकर औरभी कोई भाग है ऐसा स्पष्ट प्रतीति होता है। वह ब्राह्मणभागही है ऐसा ऋषि दयानन्दने अपने मुखसेही ब्राह्मण भागको वेद प्रतिपादन किया है। अन्यथा श्रीदयानन्दजीके मतानुयायीही निरुक्त भाग शब्दका प्रयोजन सौ वर्ष पर्यन्तभी वतलावे यह हम

प्रदर्शयन्तु वर्षसहस्रेणापाात सबहुमानमस्माभिरुद्घोष्यत इति "
तत्र वदामः क्षुद्राशयं प्रश्नमालम्ब्य सबहुमानमेतावान्महानुद्घोषस्तु
श्रीमतामेव शोभते। नूनं दुस्तरोऽयं महार्णवो भवद्भिः समुपस्था-
पितः। यद्वर्षसहस्रेणापि समुत्तर्तुमशक्योऽस्ति दयानन्दानुयायिभि-
रिति नूनं महापण्डितोऽसि। हन्त यः खलु महर्षे र्लेखमवगन्तु-
मपि न पारयति, स कथमिवाश्चर्य माश्चर्यं समालोचयितुं प्रवृत्तः।
अहो प्राबल्यं स्वार्थवृत्तेः। याहि अन्धीकरोति विचक्षणानपि सा-
धारणजनानान्तु पुनः किमुवक्तव्यम्। महात्मन् श्रूयतां समाधानम्।
लोकवृत्तमादाय महर्षिणा तथोत्तरितम्। लोके हि मन्त्रभागात्मकः,
ब्राह्मणभागात्मकश्च द्वेधा वेदः प्रसिद्धः। नच सा प्रसिद्धिः शास्त्री-
येति कृत्वा प्रतिषिध्यते। योऽपि भागो लोकवृत्त्या मन्त्रसंहिता-
त्मकः प्रसिद्धः सएव वेदो नत्वन्यो ब्राह्मणात्मक इत्याशयवानाह

---

मानपूर्वक गौरवके साथ घोषणा करते हैं। इस विषयमें मैं सूक्ष्मतासे
कहते हैं " इस तुच्छ अभिप्रायवाले प्रश्नको अवलम्बन करके सबहुमानं
ऐसे उद्घोषण ( आडम्बरवाले शब्द आपके श्रीमुखसे उद्गिरण होते हुवे
अम्बरीषके सामने दुर्वासाका अनुसरण करते हैं ( शोभायमान होते हैं )
निश्चय आपने दयानन्द मतानुयायियोंके लिये महासमुद्रकी सीमा
स्थापन करदी। जो हजारों वर्षमेंभी तरनेको अशक्य है सत्यही आप
महा पण्डित हैं। बडे दुःखकी बात है कि जो महर्षिके लेखके अभि-
प्रायको तीन जन्म धारण करके भी जाननेमें असमर्थ है वह आश्चर्यके साथ
लिखना पडता है समालोचन करनेको उद्यत कैसे हो सकता है ( अहो
स्वार्थ ( पक्षपात ) प्रबल है जो विद्वानोंकोभी समयपर अन्धा बना
देता है फिर साधारण मनुष्यका तो कहनाही क्या है ( महात्मन् आप
निश्चल करण होकर समाधान सुन लीजिये । लौकिक व्यवहारको लेकर
महर्षिने वैसा समाधान किया है। लोकमें मन्त्रभाग आर ब्राह्मणभाग
दो प्रकारके विभक्त वेद प्रसिद्ध हैं। आर वह प्रसिद्धि बिलकुल शास्त्र-

मंत्रभागसंहितेति सर्वं सुपेशलम् । अन्यथा ब्राह्मणानां वेदत्वं सिषाधयिषुः कथमग्रिमग्रन्थेनतत्खण्डनं विदध्यादिति तु बालिशोप्यनुमातुं शक्नोति तदेष भवतां सबहुमानमुद्घोषः सुतरां सदोष एव सञ्जातः । अथवा मन्त्ररूपा भागा यस्याःसा संहितेति दिशाऽपि- सूपपन्नम् ।

किञ्च " ब्राह्मणग्रन्था, वेदसंज्ञकत्वाभाववन्तः पुराणेतिहास संज्ञकत्वात् । एतच्चायुक्तम् । ब्राह्मणानामैतरेयादीनां वेदसंज्ञकत्वाभावं सिषाधयिषुर्भवान् कथमिव तेषामसिद्धमेवाद्यावधि पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्येत् ? अथ पुरातनार्थप्रतिपादकत्वात् ऐतिहासिकार्थप्रतिपादकत्वाच्च । पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं सिद्धमेव ब्राह्मणानामेवेतिचेत् ? नैतादृशपुराणेतिहाससंज्ञकत्वविरोधः ।

---

विरुद्ध है ऐसा विचार कर महात्माने निषध किया है । और जो भाग लोकवृत्तिसे मन्त्र संहितारूप है वही वेद है दूसरा नहीं है ( अर्थात् ब्राह्मणभाग वेद नहीं है ) इस आशयको लेकर स्वामीजीने कहा है कि मंत्रभाग संहितेत्यादि, सो शास्त्रानुकूलही है उस आशयको आप इस स्थूल बुद्धिद्वारा कहा पहुंच सकते हैं । अन्यथा ब्राह्मण ग्रन्थको यदि वेद सिद्ध करना होता तो आगे उसका खण्डन क्यों करते यह तो एक महामूर्ख मनुष्यभी अनुमान करसकताहै इससे आपका बहुमान सुतरां निरर्थक ही हो गया ॥ किञ्चेत्यादि अनुमान से ब्राह्मणग्रन्थोंको अवेद सिद्ध करते हैं ब्राह्मण ग्रन्थ वेदभिन्न है पुराण वा इतिहास संज्ञा होनेसे परन्तु पुराणेतिहास संज्ञकत्व हेतुका उपन्यास अयुक्त है क्योंकि ऐतरेयादिक ब्राह्मणों की पुराण वा इतिहास संज्ञा अभीतक सिद्धही नहीं हुई यदि कहेंकि पुराने अर्थके प्रतिपादक होनेसे पुराणत्व और ऐतिहासिक अर्थके प्रतिपादक होनेसे इतिहासत्व ब्राह्मणग्रन्थोंका सिद्धही है तो ऐसा पुराणत्व वा इतिहासत्व वेदसंज्ञा होनेका विरोधी नहीं होसकता है ।

निरीक्षितश्चेत्क्वचिदनयोः संज्ञयोर्विरोधो भवता तर्हि व्याचष्टाम् । यदि चेति वृत्ताभिधानेषु भारतादिषु पुराणाभिधेषु पाद्मादिषु न वेदे व्यवहाराभावात् पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं भवत्येव वेदसंज्ञकत्वविरोधीति चेत्तर्हि पाद्मभारतादीनां पुराणेतिहाससंज्ञकत्वममन्वानो भवान् कथमिदमनुद्भावयितुं शक्नुयात् । एवञ्च न पुरातनार्थप्रतिपादकत्वमात्रं वेदसंज्ञामपाकर्त्तुमर्हति । वेदानां त्रैकालिककार्थप्रतिपादकत्वन्तु सर्वास्तिकतन्त्राङ्गीकृतमेव किञ्च त्रैकालिकमर्थमभिदधतो वेदाः पुरातनार्थमपि प्रतिपादयन्तीति तेषामप्युक्तहेतुनाऽवेदत्वमेव स्यात् तस्मात्पुराणेतिहाससंज्ञकत्वादित्ययं हेत्वाभास एवेति यत्प्रत्यपादि तदपि सर्वमयुक्तम् । निरुक्तहेतोर्हेत्वाभासत्वं साधयितुमशक्यत्वात् । नहि केनापि प्रामाणिकेनोक्तहेतोराभासत्वं प्रतिपादयितुं शक्यते । कुतः । उच्यते । ब्राह्मणग्रन्था वेदसंज्ञकत्वाभाववन्तः पुराणेतिहास संज्ञकत्वात् । नहि वेदानां पुराणसंज्ञेतिहाससंज्ञा च कथञ्चित्संघटते तेषामपौरुषे-

---

यदि कहीं आपने इस प्रकार पुराण तथा इतिहास संज्ञाका विरोध देखा हो तो कहिये । यदि कहो पुराण तथा महाभारतादिमें वेद संज्ञाका व्यवहार न होनेसे पुराण तथा इतिहास संज्ञकत्व वेद संज्ञाका विरोधी है ही तोभी ठीक नहीं क्यों कि आप पाद्म भारत आदि की पुराण इतिहाससे संज्ञा मानते ही नहीं फिर किस प्रकार यह कह सकते है । और न केवल पुरातनार्थ प्रतिपादकत्वही उनकी वेद संज्ञाको हटासकता है क्योंकि वेदों को सभी तीनों कालोंके अर्थ के प्रतिपादक मानते हैं । जिसमें पुरातन भी आजाता है इसलिये उक्त हेतुसे वेद भी अवेद हो जायगें अर्थात् पुराण हो जायगे इत्यादि घनश्यामजी कथनभी सर्वथा असम्बद्ध है । क्यों उक्त स्वामी जी के दिये हुए हेतुको आप हेत्वाभास कभी भी सिद्ध नहीं करसकते । और आप क्या कोई भी प्रामाणिक उसको हेत्वाभास नहीं ठहरासकता क्यों कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेदसंज्ञक

यत्वात्त्रिकालाबाध्यत्वेन नित्यत्वाच्च। नच पुराणेतिहासादिकमपौरुषेयं नित्यंचास्ति। "पुरा नवं भवतीति पुराण। इतिह आस' इति तद्व्युत्पत्तेः। तस्मान्निरुक्तो हेतुः सद्धेतुरेवेति सिद्धम्। किञ्चानयोः संज्ञयोर्विरोधस्तु स्पष्टः एव। तत्तत्प्रतिपाद्यार्थभेदात्। अतएव पुराणेतिहासाभिधेपु पाद्मभारतादिपु वेदव्यवहाराभावोऽपि सर्वानुभवगोचर एव।

१ नच पुरातनार्थप्रतिपादकत्वमात्रं वेदसंज्ञामपाकर्त्तुमर्हति वेदानां त्रैकालिकार्थप्रतिपादकत्वस्य निखिलास्तिकतन्त्रसिद्धत्वात्त्रैकालिकमर्थमभिदधतो वेदाः पुरातनार्थमपि प्रतिपादयन्तीति वाच्यम् त्रैकालिकपुरातनार्थयोर्भेदस्य प्रत्यक्षत्वात् पुरातनार्थस्तु केवलं पुरातनकालावच्छेदेनैव भवितुमर्हति न तथा त्रैकालिकः। स तु त्रिषु कालेषु निर्बाधत्वेन विद्यमानतयोक्तार्थान्नितरां भिद्यते। अतस्त्रिकालसिद्धसिद्धान्तमभिदधतोऽपि वेदस्य न जातु पुरातनेति-

---

नहीं पुराणेतिहास संज्ञक होनेसे। यह अनुमानका प्रकार है। इससे वेदोंकी पुराणइतिहास संज्ञा है यह कैसे घटसकता है। क्यों कि वेद तो अपौरुषेय नित्य है पुराण इतिहासमें यह बात नहीं। इससे उक्त हेतु सद्धेतु हीं है असत् नहीं। रहा इनकी संज्ञाका विरोध वह तो स्पष्ट ही है। क्यों कि दोनों का प्रतिपाद्य विषय ही जब भिन्न है तो संज्ञाभेद तो स्वयंही सिद्ध होगया। इस लियेही पुराण इतिहास आदि के लिये कोई भी वेदशब्दका प्रयोग नहीं करता।

१—और आपका यह कथन चूंकि वेद तीनों कालोंके अर्थ के प्रतिपादन करते हैं। तीनों कालोंमें पुरातन के भी आजाने से वेद भी पुराण हो जायंगे ठीक नहीं कारण कि त्रैकालिक और पुरातन अर्थ में बहुत भेद है। पुरातन अर्थ केवल पुरातनत्व काही द्योतक है। त्रैकालिक सदातन का द्योतक होनसे उससे बिल्कुल भिन्न है। इसलिये उक्त हेतुसे आप वेद की पुराणसंज्ञा सिद्ध नहीं कर सकते। इसीसे 'ब्राह्मण ग्रन्थोंके

वृत्तादिकत्वं प्रतिपादयितुं परिवृढा इति सुदृढं निश्चीयताम् । "एतेनैव ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावे हेतुत्वेनोपन्यस्तस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वस्य ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावेऽहेतुत्वादपि नोक्तं साधीय" इत्यप्यपास्तम् ।

१ किञ्च नह्येकस्य वस्तुनो नानानामधेयत्वं कस्याप्यनुभवविरुद्धम् । एक एव कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थो घटः कलशो द्रव्यमित्येवं व्यवह्रियत इत्यस्त्याभिधानिकानामनुभवस्तस्मादितिहासादिसंज्ञकत्वेन वेदसंज्ञकत्वाभावसाधनमाशामोदकमात्रमिति यन्महामोहविद्रावणादुद्धृतमनेन तदपि बालचेष्टितम् । समानार्थकस्यैव नानानामधेयस्य तथात्वानुभवगोचरत्वात् । नहि विरुद्धार्थकमनेकनामधेयमेकस्यवस्तुनो भवितुमर्हति । समानार्थकन्तु भवति । घटकलशादिवत् । नच तथाप्रकृते । अत्रतु पुराणेतिहाससंज्ञाऽन्यमर्थमभिदधाति वेदश्चान्यमिति तस्माद्भवतामेव ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वसाधनमाशामोदकायितं नतु महर्षेर्दयानन्दस्येति

---

वेदसंज्ञाके अभावमें जो अन्य हेतु 'पुराणेतिहास संज्ञकत्वस्य ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावेऽहेतु त्वात्' इसकाभी खण्डन हुआ समझना चाहिये ।

१—किञ्च 'एकवस्तुके भिन्न २ नाम होते हैं यह सर्व साधारण सभी जानते हैं। ऐसे कम्बुग्रीवावाले घटके घडा कलसा आदि अनेक नाम हैं। इसी प्रकार यादि ब्राह्मणग्रन्थोंकी वेद संज्ञाभी रहे और पुराण इतिहास भी । तो इसमें क्या हानि है । इत्यादि लेख पण्डित घनश्याम जीने 'महामोह विद्रावण' नामकग्रन्थसे उतार कर लिखा है वह भी सर्वथा इनकी बालचेष्टाही है कारण समानार्थक पदार्थ के ही नाना नामधेय हो सकते हैं । भिन्नार्थक के नहीं । कोई गौको ही धेनु-बकरी, मुर्गी कहने लगे तो क्या वह पागल न कहायगा ? भाई-घंट कलश तो समानार्थक हैं । इसलिये वहां वैसा प्रयोग हो सकता है । ब्राह्मणग्रन्थोंके लिये नहीं ।

१ यच्च " ब्राह्मणानि न वेदाः, वेदव्याख्यानरूपत्वात् इत्येव न्याय्याकारः सम्भवति । हेतुश्चायमनैकान्तिकः । वेदव्याख्यानं नाम वेदपदव्यपदेश्यवाक्यकलापस्य पदान्तरेणार्थकथनं, तच्च वेदमन्त्रेष्वप्युपलभ्यतेः—' प्रजापतेनत्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परितो बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तुवयं स्याम पतयोरयीणाम्' इति यजुषो मन्त्रः । अ० २३ म. ६५

प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा-रूपाणि परितोबभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु वयं स्याम पतयोरयीणाम् " इत्यृचः ।

" नवो नवो भवसिजायमानोऽन्हाङ्केतुरुपसमेष्यग्रम् । भागदेवेभ्यो विदधास्या यत्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः " इत्याथर्वणः

" नवो नवो भवति जायमानोऽन्हाङ्केतुरुषससेत्यग्रम् । भागंदेवेभ्यो विदधात्यायं प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः" इत्यृचः । प्रथमयोर्मन्त्रयोर्विश्वारूपाणीति पदघटितादाद्यमन्त्राद्विश्वाजातानीति पदघटितस्य (

---

२—" ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं क्योंकि वे वेदोंके व्याख्यानरूप हैं " यही न्यायका आकार हो सकता है । इसमें हेतु अनैकान्तिक है क्यों कि व्याख्यान कहते है वेदका पदान्तर मात्रसे अर्थ कहने को वह तो वेद मन्त्रोंमें भी पाया जाता है देखो ' प्रजापने ' यह यजुर्वेद का मन्त्र है और यही मन्त्र ऋग्वेदमें भी आया है प्रथममें ' विश्वाजातानि ' है दूसरी जगह ' विश्वारूपाणि ' है तो यह इसका व्याख्यान है इसी प्रकार अन्यत्र भी । आपके कथनानुसार यदि वेद व्याख्यान होनेसे ही ब्राह्मवेद नहीं हो सकते हैं तो उक्तरीतिसे ऋग्वेद पर भी यही दोष आयगा ! इत्यादि कथनभी घनश्यामजी का नितान्त असङ्गत है । क्यों कि प्रकृतमें सव्यभिचारका कोई भी अवकाश नहीं । सव्यभिचार अनैकान्तिक होता है और पक्ष सपक्ष तथा विपक्ष में सर्वत्र समानतया रहता है जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होनेसे इइससे प्रमेयके नित्यानित्योभयसाधारणवृत्तिक होनेसे यहां सव्यभिचार हेतु हुआ उक्त अनुमानमें घनश्यामजीने किस तर्कचातु-

द्वितीयमन्त्रस्य चरमयोश्च संवसिजायमान इति उपसामेष्यग्रमिति, विधास्यायन्निति च विलक्षणपदघटितादाद्यमन्त्राच्चतुर्थस्य मन्त्रस्य भवति जायमान इति उपसामेत्यग्रमिति विधात्यायामिति च विलक्षणपदघटितत्वेन भिन्नतया वेदपदानां पदान्तरेणार्थकथन-रूपस्य वेदव्याख्यानत्वस्य दुरपह्नवतया तदन्तर्भावेणैवैकान्तिकम्। इति यत्तदपि तद्व्यामोह विजृम्भणमात्रम्। प्रकृते सव्यभिचारहेत्वा-भासस्यसर्वथाऽनवकाशात्। सव्यभिचारो ह्यनैकान्तिकोभवति,पक्ष-सपक्षविपक्षवृत्तित्वञ्च तल्लक्षणम्। यथा–शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, व्योमवदिति। तथासति, अत्रतुहेतोः प्रमेयत्वस्य नित्यानित्योभय-साधारणवृत्तिकत्वेन व्यभिचारितया सव्यभिचारहेत्वाभासत्वमु-पपद्यते किन्तु 'वेदव्याख्यानादितिहेतोस्तथात्वोपपादनं केवलमाशा-मोदकमात्रमेव, भवन्नयेन निरुक्तहेतोरेव तावत्साध्यकोट्यवगाहक-त्वात्। नहि भवदुक्त व्याख्यान लक्षणमेव ( यदितल्लक्षणपदभाग्भवितु-

---

री से माना यह समझमें नहीं आता? 'वेदव्याख्यानात्' इस हेतुको भी स-व्यभिचार–हेत्वाभास ठहराना केवल मनोमोदकउड़ाना है। क्योंकि आपके मतसे उक्त हेतुही साध्य कोटिका अवगाहन करता है। आपका कहा हुआ ही व्याख्यान का लक्षण भी जो कि वास्तवमें लक्षण नहीं कहा जासकता 'प्रजापते नत्वदेतानि' इत्यादि मन्त्रकलाप में संघटित नहीं होता। जो वास्तव में व्याख्यान का लक्षण है वह तो कैसे घटेगा? भाई यहां पदान्तर से भी कथन कहां है। यहां किञ्चित् पाठभेद से उक्त मन्त्रों की ही पुनरुक्ति कर दी है। क्या किसी पदार्थ की पुनरुक्ति मात्र भी किसी के मत से व्याख्यान कहा जा सकता है। हमारी सम-झमें पुनरुक्ति को तो कोई भी व्याख्यान न कहेगा। क्योंकि व्याख्या के

---

* "पदच्छेदः पदार्थोक्ति विंग्रहोवाक्ययोजना। आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्। इति व्याख्यानलक्षणात्।

अर्हति ) कर्हिचित् 'प्रजापते नत्वदेतानीत्यादि, मन्त्रकलापे संश्लिष्यते यत्तु सल्लक्षणं व्याख्यानस्य तत्तु नाम कथं संश्लिष्येत नहि पदान्तरेणार्थकथनमत्र विद्यतेऽपितु पुनर्वचनमात्रमेवास्ति, नच पुनर्वचनस्य कस्यापि नयेन व्याख्यानत्वमितिस्फुटमेव तस्मान्नास्ति निरुक्तो हेतुः सव्यभिचारः किन्तु सद्धेतुरेवेति दिक् । किञ्च सव्यभिचार इति वक्तव्ये यत् 'अनैकान्तिक' इत्युक्तं तदपि भवतां तर्कशास्त्रानभिज्ञत्वविलसितमेव ।

१ एतेनैव, निरुक्तहेतोःस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्योपाधेर्विद्यमानतयोपात्तं व्याप्यतासिद्धत्वमपि प्रत्याख्यातम् । तत्रतत्र कथञ्चित्स्मर्यमाणकर्तृत्वेन साध्यव्याप्यकत्वाङ्गीकारेपि वेदव्याख्यानरूपहेतोः प्रदर्शितादिशा निरुक्तमन्त्रेष्वसंश्लिष्टतया साधनाव्यापकत्वविरहान्न तत्रोपाधिप्रसङ्गः । कुतः ? साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमित्युपाधिलक्षणम् तच्चात्र न संघटते तस्मादित्यलं पल्लवितेन ।

---

लक्षण आचार्यों ने येही किये हैं कि व्याख्यान वही कहला सकता है कि जिसमें पदच्छेद हो अर्थकथन हो, विग्रह हो, वाक्यों की योजना हो और आक्षेप समाधान पुरस्सर विशदविवरण हो । इसी का ना व्याख्या अथवा भाष्य है । वह यहां सर्वथा नहीं घटता । इसलिये उक्त हेतु सव्यविचार नहीं होसकता । किन्तुसद्धेतु ही है । किञ्च 'सव्यभिचार' ऐसा कहने के स्थान में 'अनैकान्तिक' ऐसा कहना भी आपके तर्कशास्त्रकी अनभिज्ञता को ही प्रकट करता है ।

१—इसी निरुक्त हेतु की स्मर्यमाण कर्तृता की उपाधिके विद्यमान होने से बतलाया हुआ व्याप्यत्वासिद्धत्व भी खण्डित समझना चाहिये । और किसी प्रकारसे यदि स्मर्यमाणकर्तृत्व होने से साध्यव्यावकत्वको मान भी ले तो भी वेद व्याख्यान रूप हेतु उक्त रीतिसे घटित न होनेके कारण साधन को अव्यापकता के अभाव से कदापि उपाधि दोष न आवेगा । कारण उपाधि कहते हैं उसे जो साध्यमें व्यापक होते हुए साधनमें अव्यापक हो सो यहां है नहीं इसलिये आपका कथन सर्वथा असङ्गत है ।

१-किञ्च ' प्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात्" अनेनभूमिकाग्रन्थेन विज्ञानोत्पादकाः केऽप्यवयवाः परमाणुविशेषसंयोगेनैवोत्पद्यन्त इत्यर्थकेन परमाणु संयोगस्य विज्ञानोत्पादकत्वे लोकायतमत प्रवेशोदयानन्दस्येति य त्तदप्यसत् । तत्तत्सत्त्वविशिष्टपरमाणुजन्यबुद्ध्यादिविशेषप्रभावस्य सर्वानुभविकत्वात् । तद्द्वारैव प्राणभृतां भेदस्यानेकधाभिन्नत्वाच्च । अन्यथा सर्वात्मत्वैकत्वे कथमेतावान् भेदःस्यात् । अयमेवार्थश्चस्वामिना प्रतिपाद्यते ' प्राणिनां मध्य ' इत्यादिग्रन्थेन । तदत्रः किमत्याहितम् । कथञ्च लोकायतमतप्रवेशःसमजनि, नहि परमाणुसंयोगस्य विज्ञानोत्पादकत्वमूरीक्रियतेऽपितु किञ्चिद्विशिष्ट-

---

१ और प्राणियोंमें मनस्वी विज्ञान विचार करनेमें समर्थ मनुष्यही सर्जन किये हैं। उनकी देहमें परमाणु विशेषका संयोग होने से विज्ञान की योग्यता के अनुकूल अवयवोंके उत्पन्न होनेसे इस ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ग्रन्थसे विज्ञानके उत्पादक कितनेही अवयव परमाणु विशेषके संयोगसेही उत्पन्न होते हैं ऐसा अर्थ होनेसे परमाणु संयोगही विज्ञानका उत्पादक है इसके कहनेसे लोकायत मतानुकूल स्वामीजीका उद्देश्य बतलाया है। वहभी संपूर्ण अयुक्तही है। इतर तत्वयुक्त परमाणुवोंसे उत्पन्न हुवे बुद्ध्यादिकका भी भिन्न तथा विशेष प्रभाव होता है यह सर्व साधारणका अनुभव है। और उसीके द्वारा प्राणियोंका भेद अनेक प्रकारका होता है सर्व प्राणियोंके बुद्धि मनशरीरादिका एकत्व होनेपर इतना भेद होना असंभव है। और स्वामीजीनेभी इसी अर्थका प्रति पादन किया है प्राणिनांमध्ये इत्यादि ग्रन्थसे। फिर स्वामीजीने आश्चर्यकी वात क्या की और कैसे लोकायत मतमें प्रवेश किया। और परमाणुसंयोगसे विज्ञानका उत्पादकत्व पुष्ट नहीं करते हैं किन्तु परमाणु संयोग कुछ विशेष गुणका निर्धारक है यह

गुणाधायकत्वं तस्य प्रतिपाद्यते न च तत्केनापि प्रतिषेद्धुं शक्यते इति सर्वं सुघटम् ।

२–'परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ? अष्टविधश्चेति । इत्याद्यवलम्ब्य यत्प्रणिजगाद तदपि न चारु । सर्वस्याप्येतस्य पूर्वपक्ष कुक्षिनिवेशात् । महर्षिणा च सत्यमेवैतदिति सामान्येन स्वीकृतत्वाच्च । नहि स्वामिभिरत्र प्रमाणानामियत्ता निर्धार्यते तेषामष्टविधत्वं चतुष्ट्वं वा व्यवस्थाप्यते किन्तु नाशशब्दस्यादर्शनपरत्वं साध्यते तथा चानुपदमेव 'यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते चक्षुषा दर्शनाभावात् । ( णश् ) अदर्शने, अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिद्ध्यति·अतोनाशो बाह्येन्द्रियादर्शनेदभावितुमर्हति " इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

---

सिद्ध करते हैं । और वह किसीको अनभिमत नहीं है । ( अर्थात् इसको कौन निषेध करसकता है ।

२ परन्तु दर्शन तुम कितने मानते हो । यदि आठप्रकारके मानते हो " इसका सहारा लेकर जो कुछ कहा है वहभी ठीक नहीं क्योंकि यह तो संपूर्ण पूर्वपक्षमेंही निवेश हो सकताहै और महर्षि स्वामीदयानन्दजीने यह सब सत्यही है ऐसा स्वीकार किया है। और स्वामी यहाँ प्रमाण अनभिमतन मानते हुवे अष्टाविधत्व वा चतुर्विधत्वकी व्यवस्था नहीं करते हैं किन्तु नाश शब्द-अदर्शनपर है यह सिद्ध करना है तथा इसके अनुसारही कोई एक मिट्टीके गोलेको बिल्कुल मलकर बडे तेजवायुमें आकाशमें फेंककर उसका नाश होता है ऐसा उपचार करता है क्यों कि फिर उसका दर्शन नहीं होता है । णश् धातु अदर्शन अर्थमें वर्तता है इससे घञ् प्रत्यय होनेपर नाश-शब्द सिद्ध होता है. इससे बाह्येन्द्रियोंसे जिसका प्रत्यक्ष नहो उसीको कहते हैं । यह कोई अज्ञात विषय नहीं है। ।

१ मातापितृभ्यां सन्तानं जायत इत्यत्र क्लीवत्वन्तु संशोधकादिभ्रमविलसितमेव ।

२ "अतोनाशो बाह्येन्द्रियादर्शनमेव भवितुमर्हति" अहो पाण्डित्यं महद्दर्शितम् । बाह्येन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वमेव बाह्येन्द्रियादर्शनत्वम् । तथाचाकाशादीनां द्रव्याणां पार्थिवादिपरमाणूनाञ्च नाश एव त्वन्मते स्यादिति यत्तत्तु विजयातरङ्गायितमेव । अन्यथा कथं कस्यापि वस्तुनोध्वंसमप्रतिपादयितुः शिरसि नित्यपदार्थानां विनाशाशनिप्रहारं कुर्य्यात् । महर्षिणाच स्पष्टं प्रतिपादितं नहि कस्यापि वस्तुनो विनाशोभवति किन्तु केवलमदर्शनमेव भवति तत्कथं बाह्येन्द्रियजन्यज्ञानाविषयत्वप्रतिपादनमात्रेण कस्यचिन्नित्यद्रव्यस्यानित्यत्वापातः सम्भव इति महामनाघनश्याम एव प्रष्टव्यः । अनुपदमेवच 'तस्मान्नबाह्येन्द्रियादर्शनमात्रं नाशः' । इति स्वयमपि किञ्चिद्विशिष्टस्य तन्मात्रस्यैव नाशत्वं व्यवस्थापयन्नवाह्रियं प्राप्नोति ।

---

१ मातापितृभ्यां संतानं जायते । यहाँ नपुंकसत्वतो संशोधक अथवा प्रेसकी भूलसे है ।

२ इससे 'नाश बाह्येन्द्रियोंका अविषयही होसकताहै' अहो बडा भारी पाण्डित्य बतलायाहै । बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञानका अविषयही बाह्येन्द्रियादर्शनहै । यदि ऐसामाना जाय तो आकाशादि द्रव्य तथा पार्थिवजलीयादि परमाणुवोंकाभी नाशही तुह्मारे मतमें होजायगा । ऐसा जो कहा है सोभी भङ्गकी तरङ्गकाही प्रभाव है । विना भङ्गकी तरङ्गके किसी अनित्यवस्तु के ध्वंसको प्रतिपादन करनेवाले के ऊपर नित्यवस्तु का ध्वंसरूप वज्रप्रहार किया जासकताहै ? और स्वामीजीने तो स्वयंही कहाहै कि किसीभी वस्तुका सर्वनाश नहीं होता है केवल अदर्शन मात्र होता है । तो फिर बाह्येन्द्रियजन्यज्ञानके अविषयत्व के प्रतिपादन मात्रसे किसी नित्यद्रव्यमें अनित्यत्वारोपण करना कैसे संभव होसकताहै । यह पण्डितमानी घनश्यामजीकोही पूछना चाहिये । और उसके पीछेही तस्मान्नबाह्येन्द्रियादर्शन मात्रं नाशः ।

पूर्वं यस्य खण्डनं पश्चात्तस्यैव स्वीकारः। इति कीदृशोऽयं वामः पन्था। किमयं घनश्यामस्य बुद्धिव्यामोहो महर्षेर्वेति विवेकिभिः स्वयमेव विवेचनीयम्।

१ 'यदापरमाणवः पृथक् पृथग्भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्' इति भूमिकोक्तिंदूषयन् पृथग्भूताः परमाणव एव मिलिताः सन्तः स्थूलभावमापद्यन्त इतिनास्तिकानांपरमाणुजगद्वादिनां मतमिति। अन्यथा अदृश्यपरमाणुसमूहेभ्योऽदृश्यानां स्थूलभूतानां परमाणूनामिति नास्तिकमतानुप्रवेशस्त इत्यादिकं' यत्प्रणिजगाद तदपि तस्य भूयान् भ्रमःसर्वैस्तार्किकैरेवमेव सिद्धान्तितत्वात्। परमाणूनां हि जगदुपादानका-

---

ऐसा स्वयंभी उसीको नाश मानकर लज्जित नहीं होते हैं। पहिले जिसका खण्डन करना फिर उसीका स्वीकार करना केसी कुटिलता है और क्या इनको बुद्धिभ्रमतो नहीं होगयाहे अथवा आप स्वयंही विचार कर सकतेहैं कि इनकी मूर्खता है—या श्रीस्वामीजीकी भूल है।

॥ १ ॥ जब परमाणु पृथक पृथक् होते हैं तब वे चक्षु इन्द्रिय से नहीं दीखते हैं क्यों कि वे अतीन्द्रिय होजाते हैं। और जब मिलकर स्थूल भावको प्राप्त होतेहै तबही उनका प्रत्यक्षरूपसे पदार्थ बनकर दृष्टीगोचर होता है। क्यों कि स्थूल का स्थूलसे ही ग्रहण होताहे। ऐसे भूमिकाकी युक्तिको दूषण देत हुवे घनश्याम पृथक् हुवे परमाणुही मिलकर स्थूल भावको प्राप्त होते हैं यह परमाणुकोजगत् माननेवाले नास्तिकोंका मतहै। यदि ऐसा न मानेंगे तो अदृश्य परमाणुके समूहसे दृश्य परमाणुवोंका समूह माननापडेगा। ऐसा नास्तिकोंके मतमें तुमारा मेळ है ऐसा कहा सोभी इनका बड़ा भ्रम है। सर्व शास्त्र तथा विद्वानोंका यह ही सिद्धान्त है। परमाणु जगत्की उत्पत्तिमें कारण है यह निश्चय किसीभी आस्तिकको अनभिमत नहीं है परन्तु केवल परमाणु जगत्की उत्पत्तिमें कारण है

रणत्वस्य कस्याप्यास्तिकस्यानभिमतम् । केवलपरमाणुजगत्कारणवादस्तु नास्तिकानां मार्ग एव । नच न महर्षिणा तथारोपितमसति तथा, तस्य नास्तिकमतानुप्रवेशं विरचयतां भवतामेव तत्र प्रवेशः सञ्जातः ? । नत्वास्तिकशिरोमणेर्महर्षेर्दयानन्दस्य । नच तादृशपरमाणुसमूहेभ्यो दृश्यघटपटादिपदार्थानामप्रत्यक्षापत्तिरितिवाच्यम् ; महत्वोद्भूतरूपवत्त्वस्य संख्यापरिणतस्य, तादृशप्रत्यक्षे कारणत्वस्य सर्वसिद्धान्तसम्मतत्वात् । वस्तुतस्तु प्रत्येकस्मिन् परमाणावनुद्भूतरूपमस्ति मिलित्वानेकसंख्यापन्नपरमाणुषु तदेवोद्भूततां यातीति रहस्यम् । तस्मादत्र किञ्चिन्मुनिदयानन्दनाथनिगदितं तत्तत्सर्वं यौक्तिकम् ।

१ अन्यच्च 'वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति ज्ञानात्येव " इति यदिदमुच्यते तदप्यविदितशास्त्रवृत्तान्तस्यैव परं शोभते । वायोः प्रत्यक्षता नास्त्येवेति केचित् तत्प्रत्यक्षवादिमतेऽपि न घ्राणेन्द्रियविषयता तत्र घ्राण-

यह कहना तो आक्षेपकके योग्यही है । और स्वामीजीने ऐसा अर्थ किया नहीं है । तो ऐसा होनेसे स्वामीजीके ऊपर नास्तिक मत प्रवेशका आक्षेप करनेवाले आप दोनों नास्तिक मतमें प्रवेश सिद्ध होता है । नकि आस्तिकोंमें शिरोमणि स्वामी दयानन्दका और न अदृश्य परमाणुसमूहसे दृश्यघट पटादिकोंकी अप्रत्यक्षता होगी ऐसा कहना चाहिये । क्योंकि उद्भूत रूपवत्व महत्व ही प्रत्यक्ष में कारण है यह सर्व संमत है । और आशय तो यह है कि प्रत्येक परमाणुमें अनुद्भूत रूपवत्व रहता है वेही परमाणु मिलकर अनेक संख्यापन्न होकर उद्भूतरूपवत्वको धारण करते हैं तभी दीखते हैं । इससे जो कुछ इस विषयमें स्वामीजीने कहा है वह युक्ति पूर्वक है ।

और वायु दूरस्थित मनुष्यके नासिकासे संयुक्त होता है वह ही यहां सुगन्धि वायु है यदि ऐसा कहाजायतो वहभी शास्त्रसिद्धान्तसे वंचित पुरुषको अच्छा लगेगा । और किसीका मत है कि वायु प्रत्यक्ष होताही नहीं और

न्द्रियस्थद्रव्यग्रहणेसामर्थ्याभावात्" इत्यादिकं यत्प्रललाप तदप्यसारम् । उपचारमुद्रयैव तादृशाभिधाने वक्तुरुक्त्याशयात् । न कदाचिद् वायुर्घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति किन्तु तद्गतगन्ध एव, तथाप्येवमुपचर्यते । गन्धग्रहेणचायमनुभवति सुरभिवायुरसुरभिर्वेति न किञ्चदयुक्तम् ।

१ किञ्च 'यज्ञानुष्ठानकाले प्रणीतादि पात्राणांविहितनियतस्थले स्थापनं पुण्यजनकमितरथा पापजनकमेवेति कल्पनं प्रमाणाभावान्मिथ्यैवास्तीत्युद्दिश्य 'अग्निहोत्रादिकमपि शुभं कर्म कार्यमित्यपि कथं भवताऽवेदि ? प्रमाणादेर्वेत्युत्तरे कुतः प्रमाणादिति तदवस्थ एव पूर्वः पक्षः । ननु प्रत्यक्षमे व प्रमाणमितिचेन्न । अदृष्टवादिनां शास्त्रकाराणां मते प्रत्यक्षस्यासम्भवात् । इत्यादिकं यत्पणिजगाद तदपि निस्सत्वम् । आवश्यकपदार्थानामेवोपादेयत्वा-

---

जो प्रत्यक्ष वादी हैं उनकेभी मतमें घ्राणेन्द्रियग्राह्य तो है ही नहीं क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्षकरनेमें घ्राणेन्द्रियका सामर्थ्य नहीं है गन्धका ग्रहण करना उसका काम है । इत्यादि जो प्रलाप किया है वहभी निरर्थक है । क्योंकि उपचार दृष्टिसे ही इस प्रकारके प्रयोग किये जाते हैं । कारणकि वायुका घ्राणेन्द्रियके साथ यद्यपि संबन्ध नहीं होता गन्धका ही सम्बन्ध होता है, तथापि उपचारसे वायुसे सम्बन्ध होने काही विधान किया जाताहै । गन्धसे ही यह घ्राणेन्द्रियद्वारा ही निश्चित होता है कि यह सुरभि है या असुरभि है । यज्ञके अनुष्ठान कालमें प्रणीतादि पात्रों का यथाविदित स्थानमें रखना पुण्यजनक तथा अन्यत्र रखना पापजनक है यह कल्पनाभी प्रमाणाभावसे मिथ्या है इसको लेकर अग्निहोत्रादिक शुभकामभी करने चाहियें यह आपने कैसे जाना । यदि कहो प्रमाणादिकसे तो कौनसे प्रमाणादिकसे इसप्रकार पूर्व पक्ष स्थिरही रहा यदि कहो कि प्रत्यक्षही प्रमाण है तो ठीक नहीं क्योंकि अदृष्ट वादी शास्त्रकारोंके मतमें प्रत्यक्ष असंभव है इत्यादि कथनभी पण्डितजीका

वृथाऽऽडम्बरस्यायोग्यत्वाच्च । यावदावश्यकं प्रणीतादिपात्रं ग्राह्यं, यथास्थानञ्च निधेयम् । नहि तेषां यत्रतत्र वास्थापनं किञ्चित्पापपुण्यजनकमपितु केवलं सुव्यवस्थाधायकमेवेतिदिक् ।

१–' नचेदं शुभमिदमशुभमित्यन्वयव्यतिरेकावल्पज्ञेन जन्मसहस्रैरपि प्रत्यक्षमवलम्ब्य ज्ञातुं शक्याविति । प्रत्यक्षाभावे नानुमानमपि तत्पूर्वकत्वादेव तस्य विषयाभावाच्च नोपमानं तस्मादग्निहोत्रादि कर्मणां शब्द एव शरणम् इत्यादिकं यदाह तदप्यसङ्गतम् । अग्निहोत्रादिकर्म्मणां शाब्दत्वे न कस्यापि विमतिः । परं तस्यापि दृष्टार्थत्वाद्दृष्टार्थत्वभेदेन द्वैविध्ये सिद्धे कथमग्निहोत्रादीनि कर्म्माणि केवलमदृष्टार्थपराण्येव भवितु मर्हन्ति न पुनर्दृष्टार्थपराण्यपि, दृश्यते हि तेषां रोगनाशनवायुशोधनादिकञ्च फलम् प्रत्यक्षं, भवतु नामाप्रत्यक्षमपिस्वर्गादिकमेककुक्षिगतं तेषां फलं, किन्तु तत्प्रत्यक्षफल-

---

निःसत्वहै क्योंकि आवश्यक पदार्थही उपादेय होते हैं अनावश्यक नहीं कारण कि व्यर्थ आडम्बर करना अयोग्य है आवश्य प्राणीतादि पात्रोंकोही लेना चाहिये और यथास्थानमें व्यवस्था पूर्वक रख देना चाहिये उनके यत्रतत्र रखदेनेमें कोई पाप पुण्य विशेष नहीं है इसलिये वैसी कल्पना करना व्यर्थ है ।

यह शुभ है यह अशुभ यह अन्वयव्यतिरेक तो अल्पज्ञ मनुष्य हज़ार वर्षों में भी प्रत्यक्षरूपसे नहीं जानसकता । जब प्रत्यक्ष नहीं तो अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमान हुआ करता है इसी प्रकार उपमानभी नहीं हो सकता इसलिये अग्निहोत्रादि कर्मों में शब्द प्रमाणही केवल शरणहै इत्यादि जो कहा है वहभी असङ्गत है क्योंकि अग्निहोत्रादिके शब्दप्रमाणसिद्ध होनेमें किसीकीभी विमति नहीं । प्रश्नतो यह है कि जबकि अग्निहोत्रादिका दृष्टफलभी देखा जाता है तो फिर व केवल अदृष्टफलवालेही है यह कैसे कहा जासकता है। इसके शोधन रोगनाश आदि फल स्पष्ट प्रत्यक्ष है । अदृष्टफलभी हों उनसे हमारी कोई

कत्वस्यापिसर्वेषां साक्षिकत्वात्तस्मिन् शब्दैकमात्रशरणत्वन्तु साहसमात्रमेव ।

---

# [ अथ भूमिकाप्रकाशस्योत्तरो भागः ]

१ अथ 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सेत्यादि प्रमाणत्वेनोद्धृतं वाक्यमुद्दिश्य 'कस्मिन्नर्थे समुपन्यस्तमिदं प्रमाणमिति यज्जिज्ञासितं तत्र वदामः केवलं मनसःस्वरूपप्रतिपादनार्थमेवसुपन्यस्तम् । नहि मन्त्रव्याख्यानावसरे तदन्तर्गतपदविशेषस्य व्याख्यानार्थं समुद्धृतं प्रमाणं कथञ्चिदन्याय्यां कोटिमधिरोहति । भूषणमेवैतद्भाष्यस्य यत्तदर्थपोषकप्रमाणोद्धरणन्नाम न कर्हिचिद्दूषणम् ?' पण्डितपते !

२ अपिच 'शुभगुणानामिच्छाकामः' इत्यादिग्रन्थेनासौ शुभे-

---

हानि नहीं। इसलिये केवल शब्दही प्रमाण है। प्रत्यक्षादि नहीं यह कथन आपका साहसमात्रही है ?

अथ 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा' इस प्रमाणरूपसे उद्धृत वाक्य पर आक्षेप करते हुए आप पूछते हैं कि यह वाक्य किसलिये दिया ? वाह क्या अच्छा प्रश्न है । भाई मनके स्वरूपप्रतिपादनके लिये इस वाक्यका उद्धरण किया गया है किसी मन्त्रके व्याख्यान करते समय यदि तदन्तर्गत किसी पदविशेषके अर्थकी पुष्टि के लिए प्रमाणान्तरका दिया जाना कदापि असङ्गत नहीं होता । यह तो मनुष्यकाभूषणरूपही है मगर घनश्यामजी तो इसको दूषण ठहराते हैं ?

---

## [ अथ भूमिका प्रकाशका उत्तर भाग ]

किञ्च 'शुभगुणोंकी इच्छाको काम कहते हैं' इस स्वामीजीके अर्थ पर आपका यह कथनभी कि तो फिर अशुभ गुणोंको इच्छाको क्या

तरेच्छाया अकामत्वं प्रसञ्जयन् यदाह तदपि न यौक्तिम् । कामश-ब्दस्योभयत्रपरत्वेऽप्यत्र शुभेच्छाग्रहण एव तात्पर्यपर्यवसानात् ।

३ किञ्च ' धर्म्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवतीत्यस्यार्थो नाधिगत-श्चेत्कस्यायमपराधः कस्यचिदार्यविदुपश्चरणसेवयाधिगन्तव्यम् ।

---

# अथसृष्टिविद्याविषयः

४ अतः परं सृष्टिविद्याविषये प्रदर्शितान् कतिपयमन्त्रार्थो नाश्रित्य यथाबुद्धिबलोदयमाक्षिपति । यत् ' न असदासीत्तदानी ' मित्यत्रासत्पदस्य शून्यपरत्वं कुत उपलब्धमिति । तत्समाधीयते ।

---

' काम ' नहीं कहसकते ? ठीक नहीं क्यों कि यद्यपि काम शब्दसे इच्छामात्रका ग्रहण होने परभी यहां पर शुभेच्छाके ग्रहणसे ही स्वामीका तात्पर्य है इसलिये स्वामीजी महाराजने ऐसा लिखा है । इससे आपने यह कैसे निकाल लिया कि ' काम ' शब्दसे अशुभेच्छाका ग्रहण नहीं हो सकता ?

और आप कहते हैं ' धर्माख्यांलब्ध्वाऽर्थो भवति " इस वाक्यका तो अर्थही हमारे समझमें नहीं आया । यदि आपके इतने सुस्पष्ट पदोंका भी अर्थ समझमें नहीं आता तो विद्वज्जनोंकी सेवा करो ताकि योग्यता बढ़े और अर्थ समझमें आने लगे !

---

## सृष्टिविद्याविषयः

इस विषयमें दिये हुए कतिपयमन्त्रार्थों को लेकर अपनी बुद्धि के अनुसार घनश्यामजी आक्षेप करते हैं कि ' न असदासीत्तदानीम् " अर्थात् सृष्टिसे पहिले असत् भी नहीं था । यहांपर स्वामीजीने असत् शब्दका ' शून्य ' यह अर्थ कैसे लिया ? इसका उत्तर सुनिये । सृष्टिसे पहिले

सृष्टेः प्राक् 'असत्' शून्यमाकाशमभावरूपमेवासीत्किम्? इति जिज्ञासायामुच्यते ( वस्तुस्थितिप्रदर्शनार्थमेवायं ग्रन्थः ) नैवासदपि नासीत् । तर्हि किं सदासीत्? नैव सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं यत्सत्संज्ञकं तदपि नासीत् । किम्भो ! यदा सन्नासीत्तदासता तु भवितव्यमेवेति किन्नायौक्तिकं भवतामसदाकाशमभावरूपम् ? इति विचिकित्सायां तद्व्यावहारिकीं सत्तां निराकुर्वन्नाह 'तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावादिति । न कर्हिचित्परमार्थतः । तदेवमेतावता 'तस्माद्वा एतस्मादित्यादिश्रुति व्याख्यानावसरेस्वग्रन्थेषु बहुत्र गगनस्य पारमार्थिकीं सत्तां नित्यताञ्चाङ्गीकृत्य, अत्र तस्यैव प्रकृतमनादृत्य तुच्छतां प्रतिपादय' न्नित्यादिग्रन्थोऽपि सुतरां निराकृतो वेदितव्यः।

---

जबकि यह दृश्यजगत् उत्पन्न नहीं हुआ था असत्=अभावरूप आकाश अथवा क्या सब शून्य ही था? इस जिज्ञासाके होनेपर (वस्तुस्थितिके दिखानेके लियेही उत्तरमें कहते हैं, नहीं 'असत्' भी नहीं था । जब असत् नहीं था तब क्या 'सत्' था नहीं प्रकृत्यात्मक अव्यक्त जिसकी सत् संज्ञा है वह भी नहीं था । क्यों जब सद् भी न था और असद् भी नहीं था । तो था क्या ? इस प्रकारकी शङ्काके उत्पन्न होनेपर स्वामीजीमहाराज स्वयं लिखते हैं "तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्" अर्थात् उसके व्यवहारके नहोनेसे 'असत्' आकाशरूप होते हुए भी वह नहींके समान था । इस प्रकार व्यावहारिक सत्ताका निराकरण करते हुए वहां 'असत्' का वैसा अर्थ किया गया है । परमार्थ को लेकर नहीं । अर्थात् होते हुए भी उसके किसी प्रकारके व्यवहारमें न आनेसे नहींके समान ही है इसी अभिप्रायसे स्वामीजीने लिखा है । इस लिये इसी लेखसे 'तस्माद्वा एतस्मादित्यादिश्रुति व्याख्यासमयमें अपने ग्रन्थोंमें बहुतसे स्थलोंपर गगन परमार्थकी सत्ता को माना है किन्तु उसीका यहांपर खण्डन करते हैं" इत्यादि कथनभी घनश्याम जीका स्वयं ही खण्डित हो गया ऐसा समझना चाहिये ।

५ नच व्यवहारभावमात्रेण वस्तु तुच्छतामभिदधतस्तवात्मनोप्य-सत्वं किन्नस्यात्तदानीं तदीयस्य कीदृशस्यापि व्यवहारस्यासत्वादिति वाच्यम्? वैषम्यात् । विषमः स्वल्वयं दृष्टान्तः । नहि तत्रात्मसत्वं गगनसत्ववत्केवलं व्यवहाराकालालम्बि । अपि तु नितरां तद्भिन्नमेव तदुभयसाधारण्यात् । नच वियति तथेति सर्वमविकलम् ।

किञ्चातः परं ' सर्गात्प्राग् जगन्मूलकारणभूता प्रकृतिरपि नासीत् । परमाणवोऽपि नासन् । विराडपिनाभूत । केवलं शुद्धं ब्रह्मैवाभूत' इतिमन्त्राशयं प्रदर्शयतो दयानन्दस्याभिमतएव मायावाद इत्युक्तिरस्यापि केवलंमनोमोदकायितमेव। तत्र परब्रह्मणः सामर्थ्याख्य ( मैश्वर्यरूप ) मतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य ( दृश्यजगतः ) परमकारण-संज्ञकमेव तदानीं समवर्तत इति सुस्पष्टं ब्रह्मणोऽभिन्नस्यजगत् परम-

---

१ और आपका यह कथन कि यदि व्यवहारके अभावमात्रसे ही वस्तुतुच्छता समझी जाय तो उस अवस्थामें आत्माका भी तो किसी प्रकारका व्यवहार नहीं रहता इस लिये उसका भी अभाव क्यों न समझा जाय ? सर्वथा असङ्गत है । विषम होनेसे आपका दृष्टान्त विषम है क्योंकि आत्माका आस्तित्व आकाशके आस्तित्व की भांति केवल व्यवहा-रावलम्बी ही नहीं है किन्तु सर्वथा उससे भिन्न है आत्माकी आस्ति तो उभय साधारण है व्यवहार तथा परमार्थमें, किन्तु आकाश की वैसी नहीं हैं आकाश केवल व्यवहारपर विशेष अवलम्बन रखता है । इसलिये स्वामीका कथन सर्वथा सुसङ्गत है ।

२ किञ्च ' सृष्टिसे पहिले जगत् की मूल कारणभूत प्रकृतीभी नहीं थी परमाणु भी नहीं थे विराड् भी नहीं था केवल शुद्ध ब्रह्महीं था ' इस प्रकार मन्त्रके आशय को बताते हुए ऋषि दयानन्दजीको मायावाद अभिमत ही था ऐसा मानना पड़ता है । एसा लिखकर घनश्यामजीने मनमाने लड्डु ही खाकर मनोरञ्जन किया है । क्योंकि स्वामीजीने तो ' परब्रह्म का ऐश्वर्यरूप सामर्थ्याख्य अतीव सक्ष्म इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् का परम

कारणस्य सुतरां प्रतिपादितत्वात् । अपिच ' केवलं शुद्धं ब्रह्मैवाभूद्' इति स्वीयं पदं निवेश्य महर्ष्यभिमतं मायावादं प्रतिपादयता नूनं भवताऽद्यतनगुप्तचरायितं । यथा ह्येदंयुगीनोगुप्तचरोऽभियुक्त निकेतने किञ्चित्ताद्दशमनासादयन् स्वहस्तलाघवेन यत्र तत्र वा स्वयं ताद्दशं किञ्चित्संस्थाप्य क्षणानन्तरं भूयोनितम्बमास्फोट्योच्चैर्घोषयति सुमपलब्धमिदं प्राप्तमिदमितितद्वदेव श्रीमद्भिरपि स्वीयं पदावलिं समावेश्याभियोजितो महामना महर्षिरिति । पश्यत रेऽस्य लेखनी-लाघवम् । पण्डितप्रवर ! न भवाद्दशां ताद्दशकौशलं शोभते । अस्त्य-द्यावधि तु भगवतीवसुन्धरा प्रेक्षावद्भिः परिपूर्णा । नहि सर्वेऽन्धधिय एव संवृत्ता यदेतावता तव प्रपञ्चेनैव वञ्चनापथमवतरिष्यन्तीति । अस्तु । एतन्महिम्नैव " गोतम कपिलादि महर्षिप्रणीतानि शास्त्रा-

---

कारण प्रकृति असत् संज्ञकही उस समय थी " इत्यादि ग्रन्थसे स्पष्ट ब्रह्मसे भिन्न जगत् का परम कारण बताया है । फिर कैसे आपने स्वामीजी को मायावाद का माननेवाला बतलाया ? आपने यहां तो बिल्कुल कमालही कर दिया । आपकी इस कार्यवाही को देखकर तो मालूम होता है कि आपने जरूर डिटेक्टिवपने का काम भी किया है । जैसे आजकलके डिटेक्टिव अभियुक्तके घरमें घुसकर तलाश करनेपर भी कुछ ऐसी वैसी इलजाम के लायक चीज़ को नहीं पाते तो स्वयं ही अपनी जेबसे निकालकर धीरेसे वहां डुबका देते हैं और उसी को निकालकर कहते हैं कि हां हां यह मिली मिली । ठीक उसी प्रकार आपने उपरोक्त वाक्योंको स्वामी-जी के लेखमें मिलाकर स्वामी जी को अभियुक्त करनेका प्रयत्न किया है । ज़रा विद्वान् लोग इनकी लेखनी की सफाई को तो देखें ? पण्डित घनश्यामजी ! यह चालाकी क्यों ? फिर आर्य विद्वानों के साथ ! अभी तक तो यह वसुन्धरा आखोंवालोसे परिपूर्ण है सभी अन्धे नहीं हुए ? केवल इतने मात्रसे विद्वज्जन समाज आपकी वञ्चना में नहीं आजावेगा ।

णिच वेदविरुद्धत्वाद्धेयतामुपगतानि " इत्यादि सन्दर्भोऽप्यकिञ्चन-गर्भ एव समजनीति प्रतिपत्तव्यम् ।

" किमावरीवःकुहकस्येति " अत्र मन्त्रे कुहकशब्दमवलम्ब्य यत्-प्रललाप तदपि न चारु । महर्षिप्रतिपादितार्थस्यापि साकल्येन तादृग् दोषाप्रसङ्गात् । तथाहि 'कुहक' शब्देन 'कुहरा' इति लोकप्रसिद्ध एव गृह्यते 'कुह किमस्तीति यत्र न प्रतिभातीतितद्व्युत्पत्तेः । कुहकस्तुषारः कुहरा इति प्रसिद्धः ।

१-यच्च ' इयं विसृष्टिर्यत आवभूवेति मन्त्रप्रतीकं धृत्वा " यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विविधा सृष्टिरावभूवोत्पन्नासीदि ' त्यादिना ब्रह्मोपादानकत्वं जगतां प्रतिपादयताऽङ्गीकृत एव वेदान्त-सिद्धान्त इत्यादि । अनेन तु स्फुटं ' मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता

---

इसी से ' गोतम कणादिमहर्षिप्रणीत शास्त्र भी वेदविरुद्ध हो जायगे ' इसलेख का उत्तर होगया है क्योंकि उक्त लेखसेही खण्डन होजानेसे उसमें विशेष तत्व नहीं रहा जाता ।

२ " किमावरीवः कुहकस्य " इस वेदमन्त्र में ' कुहक ' शब्द को लेकर जो प० घनश्यामजीने लिखा है वह भी ठीक नहीं । क्योंकि ऋषिका अर्थ ही ठीक है। कुहक के अर्थ स्वामीजीने ' कुहरा ' के किये हैं । सो युक्तियुक्त है कारण कि ' कुह ' यह अव्यय है इसका अर्थ ' कुत्र ' कहां तो ' कुह कुत्रवा किमस्तीति यत्र न प्रतिभाति ' अर्थात् कहां क्या वस्तु है जिसमें यह प्रतीत न हो उसको कुहक अर्थात् कुहरा कहते हैं। सो कुहराके समय ऐसी स्थिति हो ही जाती है । इसलिए ऋषिका अर्थ बिल्कुल बुद्धिसङ्गत है।

१-" इयं विसृष्टिर्यतआबभूव " इस मन्त्रकी प्रतीक को रखकर जिस परमेश्वरसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है " इत्यादि लेख से घनश्यामजीने सिद्ध करना चाहा है कि स्वामीजीने ब्रह्मको जगत् का उपादान कारण मान लिया । वाह क्या खूब ! इस श्रुतिके उल्लेखमात्रसे ही आपने यह

हरीतकीति लोकोक्तिरेव चरितार्थिता । कुतः । उच्यते शृणु । तादृश ब्रह्मोपादानत्वोपोद्बलकवचनस्य तत्रादर्शनात् । न खलु महर्षि-प्रणीते ग्रन्थे क्वचिदपितादृशं ब्रह्मोपादानत्वसाधकं वचनमुपलभामहे । येन तादृशं लवतोऽपि भवेद्विभावयितुं शक्यमिति किं मुधाधावनेन ।

२–नच " प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना भवति" इत्यादिवचोभिः सुस्पष्टमेव श्रीमद्दयानन्दाचार्याणामभिमतं ब्रह्मोपादानकत्वमिति ध्वन्यत इतिवाच्यम् ! परब्रह्मसामर्थ्यस्यैवा-दिकारणस्य तत्र पर्यवसानात् । उक्तञ्च पूर्वं "परब्रह्मणः सामर्थ्याख्य-मतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसञ्ज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत इति । न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

३–किञ्च " प्रतिपादयन्नङ्गीकृत इत्यनेन तु स्वीयं व्याकरणबो-धशून्यत्वमेवानेन विस्फोरितम् ।

---

कैसे समझ लिया कि ब्रह्मको जगत् का उपादान कारण मान लिया । क्यों घनश्यामजी क्या सचमुचही आप एसे प्रज्ञान्ध हैं ? या किसी नशेके वक्तमें ऐसा लिख गये हैं । बताइये तो सही यह बात क्या है ? स्वामी जीके किसी भी पदसे यदि ब्रह्मका उपादान कारण होना सिद्ध करदें तो आपको हम दूसरे बृहस्पति की ही उपाधि देदें ।

१–और यदि यह कहो ' प्रलयवेलामें सबके आदिकारण परब्रह्मके सामर्थ्य में ही ( दृश्यजगत् ) प्रलीन हो जाता है इत्यादि लेखसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषिदयानन्दने ब्रह्मकी जगत् के प्रति उपादानता स्वीकार ली तो ठीक नहीं क्योंकि उस लेखसे ब्रह्मके सामर्थ्य कीही जिस का ऊपर वर्णन कर चुके हैं अभिप्राय है । इस लिये उक्त कथन भी आपका ठीक नहीं.

२–आपने ' प्रतिपादयन्नङ्गीकृतः ' इस वाक्यको लिख कर तो अपनी व्याकरण की बोधशून्यता को ही प्रकट किया है । क्यों कि लघु पढ़ने

४–नापि " इयं विसृष्टि र्यत आबभूव इत्यत्र 'यतः' इति पञ्चम्याः प्रकृतिलक्षणकापादानेऽनुशासनात् " जनिकर्तुः प्रकृति" रिति व्याकृतिनयेन जन्मवतोऽर्थस्य प्रकृतेरपादानसंज्ञकत्वेन प्रकृतेरुपादानकारणप्रसिद्धेश्च 'अपादाने पञ्चमी" ति पञ्चमीविधानमुपादानकारणत्वस्यैवानुमापकमिति रमणीयम् । प्रकृतिशब्दस्य कारणमात्रपरत्वस्य सर्वानुभवगोचरतया तादृशदोषाप्रसङ्गात् । कारणमात्रपरो ह्यत्र प्रकृतिशब्द उपादीयते न तूपादानकारणपरः । कुतः । श्रूयताम् । यद्ययमत्रोपादानकारणपरो नोपादीयेत तर्हि " तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे " ( ऋ० ८।४।१९।१८ ) " आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः "

( मनु. ३।७६ )

" सुपुत्राज्जायते मोदः सुधनाच्चापि परं सुखम् " ( स्फुटम् ) एवंविधाः सर्वेऽपि प्रयोगाः पीड्येरन् । नहि यज्ञादित्यसुपुत्रादय

---

वाला बालकभी 'प्रतिपादयन् " इसकी जगह 'प्रतिपादयता' यह प्रयोग करता ' हमारी यह समझमें मैं नहीं आता कि जो व्याकरण की एसी छोटी गलती करते हैं उन्हों ने ऋषिके लखेपर कलम उठानेका कैसे प्रयत्न किया ?

३–" इयं विसृष्टिर्यत आबभूव " इसमें 'यतः' यह पञ्चम्यन्त पद है । और पञ्चमी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इस सूत्रसे अपादान संज्ञा होती है और अपादाने पञ्चमी इससे अपादानमें पञ्चमी का विधान करते हैं । इसालिये 'यतः' पदही स्वयं उपादान कारण का अनुमापक है । यदि ऐसा कहो तबभी ठीक नहीं क्यों कि प्रकृति शब्दसे तो कारण मात्र का ग्रहण हो सकता है नाकि उपादानका ही । इसलिये यहां प्रकृति पद उपादान काही ग्रहण है यह कहना सर्वथा भ्रमपूर्ण है ।

१–यदि कहो कि जब कारण मात्रका प्रकृतिसे ग्रहण हो सकता है तो फिर उपादानका ही क्यों न ग्रहण किया जाय ? तो इसपर हमारा कथन

ऋग्वृष्टिप्रमोदादीनां कर्हिचिदुपादानकारणानिसम्भवन्ति । वभतिच तेभ्योऽपि पञ्चमीप्रकृतिलक्षणकेऽपादान एव । अत एव वृत्तावप्युक्तं "पुत्रात्प्रमोदोजायते" इत्यादावनुपादानेऽपि पञ्चमीनिर्देशात्प्रकृतिपदं हेतुमात्रपरमिति । न्यासेऽपिच 'असति प्रकृतिग्रहणे, उपादानस्यैवापादानसंज्ञास्यात्प्रत्यासत्तेर्नंतरस्य । प्रकृतिग्रहणात्कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽप्यपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थम् ।" इति एवं भगवताभाष्यकारेणापि "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम् । कथं ? गोमयाद्वृश्चिको जायते, गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वाजायन्ते इति अपक्रामन्ति तास्ताभ्य इत्यादिना गोलोमादीनां दूर्वान् प्रत्यविधित्वात् । ध्रुवमपायेऽपादानम् ( अष्टा० १।४।२४ ) इत्यनुशासनेनैवापादानसंज्ञासिद्धेरनारम्भणीयमेतत्सूत्रमितिप्रत्याख्यातम् ।

---

यह है प्रकारणानुसार ही जिसकी सङ्गति लगती हो उसीका ग्रहण हुआ करता । इसलिये प्रसङ्ग सङ्गतिसे यहां उपादानका ग्रहण करना अशक्य है । यदि ऐसे स्थालोंपर उपादान का ही ग्रहण करना चाहिये यह माना-जावें तो 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे" अर्थात् उस परमेश्वरसे वेद उत्पन्न हुए । तथा "आदित्याज्जायते वृष्टिः" अर्थात् आदित्यसे वृष्टि होती है, एवं 'सुपुत्रसे आनन्द होता है इत्यादि प्रयोगों का क्या मतलव होगा ! क्या तीन कालमें भी यज्ञ आदित्य, तथा पुत्र ये ऋग्वेद वृष्टि एवं आनन्दके उपादान कारण वनसकते हैं कदापि नहीं ? इनसे भी तो प्रकृतिलक्षण अपादान में ही पञ्चमी होती है ? इसलिये यह नियम नहीं मानाजा सकता कि जहां पञ्चमी हो वहां उपादान कारण ही का ग्रहण हो । इसी लिये वृत्तिकार ने भी 'पुत्रसे आनन्द होता है' इत्यादि में अनुपादान में भी पञ्चमीका निर्देश होनेसे प्रकृति पद हेतुमात्र परक है यह स्पष्ट कहा है । इस प्रकार 'न्यास' में भी इसी की पुष्टि की गयी है और भाष्यकार भी स्पष्ट रीतिसे कहते हैं कि

सूत्रकृताच "हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः" (अष्टा० ४।३।८१) इति सूत्रे हेतो मनुष्याच्च विकल्पेन रूप्यप्रत्ययविधौ "तत आगतः" ( अष्टा० ४।३।७४ ) इति प्रकृत्यर्थस्य पञ्चम्यर्थस्य हेतोरिति विशेषणमुपादानेन हेतावपि पञ्चमी विभक्तिर्भवतीति स्पष्टं विज्ञाप्यते तस्मात्पञ्चमी विधानमुपादानकारणस्यैवानुमापकमिति कथनं कथञ्चिदपि न युज्येत । नच प्रकृतिशब्दः सर्वत्रोपादानकारणक एव प्रसिद्ध इतिवाच्यम् तदितरपरत्वस्यापि तद्दर्शनात् तथाहि "तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ" ( अष्टा० ५।१।१२ ) इतिसूत्रे काशिकाकारोपि 'प्रणिजगाद । विकृतेरिति किं ? उदकार्थः कूपः । विकृतिग्रहणेऽक्रियमाणे याकाचित्प्रकृतिर्गृह्यतेनोपादानकारणमेव । भवति चकूप उदकस्य प्रकृतिस्तत्रोत्पादनात् । नतु उदकं तस्य विकृतिः ।

---

' यह सूत्रभी । नहीं होना चाहिये क्योंकि ' गोमयाद्वृश्चिको जायते । ' गोलोमाविलोमभ्यः दूर्वा जायन्ते " इत्यादि प्रयोगमें ध्रुवमपायेऽपादानम् इससूत्रसे ही अपादान संज्ञा सिद्ध होनेपर इससूत्रको नहीं करना चाहिये। इत्यादि स्पष्टरीति उक्त सूत्रका प्रत्याख्यान ही करदिया है । और सूत्रकारने "हेतु मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः " इस सूत्रमें हेतु और मनुष्यसे रूप्य प्रत्यय विधान करनेपर ' ततः आगतः ' इससे प्रकृत्यर्थक पञ्चम्यर्थ हेतु के विशेषणका ग्रहण करनेपर हेतुमें भी पञ्चमी होती है, यह स्पष्ट जता दिया है । इससे केवल उपादानमें ही पञ्चमी होती है यह बात नितान्त अयुक्त ठहरती है । और यदि यह कि प्रकृति शब्द तो सर्वत्रही उपादान परक है तो भी ठीक नहीं क्योंकि उपादानसे भिन्नार्थों में भी इसका ग्रहण किया हुआ देखागया है । देखिये ' तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ' इस सूत्रपर काशिकाकार स्पष्ट रीतिसे कहते हैं कि यहां विकृति ग्रहण क्यों किया ? "उदकार्थः कूपः " यदि विकृति ग्रहण नहीं करेंगे । तो प्रकृति से सर्वत्र उपादान कारण काही ग्रहण न होने से क्योंकि कूप उदक की प्रकृति तो है कारण कि जल उसमें

अत्यन्तभेदादिति" तस्मात् न सर्वत्रोपादानकारणपर एव प्रकृति शब्द इति सुस्थिरम्।

यच्च–'किंबहुनाऽस्माकन्त्वयमेवार्थोऽभिमतः 'यत उपादानभूतात्परमात्मन इयं विसृष्टि रावभूव जाता" इति तदपि नितरामसङ्गतम् चेतनस्योपादानकारणत्वासम्भवात्। चेतनस्य खलु निमित्तकारणत्वमेव सम्भावयितुं शक्यम् न जातूपादानकारणत्वम्। "परिणामित्वप्रसङ्गात्।" यत्समवेतं कार्य्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणं तदेवोपादानशब्देनाऽपि व्युपदिश्यते यथा तन्तवः पटस्य मृत्पिण्डो वा घटस्य। निमित्तकारणत्वञ्च कारणत्वेसति समवाय्यसमवायीतरकारणत्वम्। यथा तन्तुवायः पटस्य, कुलालोवा

---

उत्पन्न होता है किन्तु उदक (जल) उसकी विकृति नहीं अत्यन्त भेद होनेसे। इसलिये सर्वत्र प्रकृति उपादानपरक ही है यह कथन सर्वथा भ्रमभूलक है।

२ 'बहुत कहने से क्या मतलब हमारा तो यही तात्पर्य है कि"उपादानभूत परमातमासे सृष्टि की उत्पत्ति हुई" यहांपर परत्माको उपादान ठहराना भी आपका नितान्त भ्रममूलक है। क्योंकि चेतनपदार्थमें कभी भी उपादान करणता का सम्भव नहीं। यदि चेतन को उपादान करण मानोंगे तो उसमें परिणामित्व का दोष आवेगा। अर्थात् चेतन भी परिणामी होजायगा जो सर्वतन्त्रविरुद्ध है। जिससे समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है उसको समवायि कारण कहते हैं समवायि कारणही उपादान कारण कहलाता है। तन्तु पटका समवायी कारण अथवा उपादान कारण है एवं मिट्टी घट का। और निमित्त कारण उसे कहते हैं 'कारणत्वे सति समवाय्यसमवायीतर कारणत्वं" कारण हो किन्तु समवायि असमवायि कारणसे भिन्न हो। जैसे पट का तन्तुवाय और घटका कुलाल। भाव यह है कि जो कार्य्य के आकारमें परिणत हो जाता है उसको उपादान जिससे अधिष्ठित हुआ परिणत होता है वह निमित्त

घटस्येति । इदमत्र बोध्यम् । यत्खलुकार्य्याकारेण परिणमते तदु-पादानं यदधिष्ठितञ्चतत्परिणमते तन्निमित्तकारणमिति सर्वजनीनम् एवं, सति भगवतो ब्रह्मणो जगदुपादानत्वस्वीकारे तत्परिणामित्वं प्रसज्यते निखिलशिष्टाभिमतं तस्य कूटस्थनित्यत्वञ्च पुनर्व्याह-न्यते । नहि यत् परिणामि तदेव कूटस्थनित्यमपि स्यादिति कस्या-प्यनुभवगोचरम् ।

२ "साख्प्यानुपलम्भात्"—लोके—हि यदुपादानकं यत्तस्य तत्सा-रूप्यमुपलभ्यते यथा मृदुपादानकस्य घटादेर्मृत्सारूप्यम् । सुवर्णो पादानकस्यच कटकरुचकादेः सुवर्णसारूप्यम् । एवं जगतोऽपि ब्रह्मसारूप्यमुपलभ्यते । नच तत् तथोपलभ्यते । नित्यशुद्धबुद्ध-चेतनंहिब्रह्म । जगच्च सर्वथा तद्विरुद्धमविशुद्धमबुद्धमचेतनमनि-त्यञ्च । नच तयोःसारूप्याभावे ब्रह्मोपादानकत्वं जगतः प्रयत्न सहस्रे-

---

कारण कहलाता है अब यदि परब्रह्मको जगत्का उपादान कारण ही माना जाय तो प्रथम दोष तो यही आवेगा कि ब्रह्म परिणामी होजा-यगा । और उसकी कूटस्थनित्यता का जो सर्व सिद्धान्त सिद्ध है व्याघात होजायगा । क्योंकि कूटस्थानित्यता तथा परिणामित्व ये दोनों धर्म्म एक ही वस्तुमें नहीं बनसकते ? दूसरा बड़ाभारी दोष यह आवेगा कि—समानरूपता का अभाव । क्यों कि जब ब्रह्म उपादान कारणभूत निराकार है तो जगत्भी निराकारही होना चाहिये क्योंकि संसारमें यह नियम देखने में आता है कि जिसका जो उपादान होता है उस उपादानका स्वरूप अवश्यही कार्य में आता है जैस घटादिकमें मिट्टीका स्वर्ण कुण्डलमें सोने आदिका इसी प्रकार ब्रह्मकी स्वरूपताभी जगत्में आनी चाहिये । किन्तु वैसा नहीं देखते । ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है और जगत् सर्वथा तद्विरुद्ध अशुद्ध अबुद्ध अचेतन तथा बन्धनवाला है इसलिए ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता अपितु निमित्त कारणही है ।

णापि व्यपदेष्टुं शक्यम् । तस्मान्निमित्तकारणमेव जगतो ब्रह्म नोपादान-कारणम् । तत्र सारूप्याभावस्य सर्वतन्त्रसिद्धत्वात् । नहि रुचकवलयादीनां स्वर्णकारादिसारूप्यं केनचित्क्वचिदप्युपलब्धमिति दिक् ।

किञ्च 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इति वैयासिकंसूत्रं यद्ब्रह्मोपादानकारणत्वपोषकत्वेनोपन्यस्तं तदपि न रमणीयम् । प्रकृतिसहायस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वन्तदसहायस्य वेति विचिकित्सायां तदसहायस्यकेवलस्य कारणत्वे परिणामित्वाद्यनेक-दोषप्रसङ्गात्तत्सहायमेव जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेति तत्र सिद्धान्तितत्वात् । तथा हि श्रूयते ' य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन, एतद्वैतदिति प्रतिज्ञा । यः सुप्तेषु=स्वप्नाव-स्थापन्नेषु चराचरात्मकेषु पदार्थेषु जागर्त्ति=जागरण शीलः न

---

और पण्डित घनश्यामजीने ब्रह्मके उपादान होनेकी पुष्टिमें ' प्रकृतिश्च' इत्यादि वेदान्त सूत्रका जो प्रमाण दिया है वह भी ठीक नहीं। कारण कि उक्त सूत्रका आशय ही आपने नहीं समझा । इस सूत्रमें तो, क्या ब्रह्म प्रकृति की सहायतासे जगत् को रचता है अथवा प्रकृतिके विना स्वयंही रच लेता है इस शङ्काके होनेपर उत्तर दिया गया है प्रकृतिसे जगत्की उत्पत्ति करता है प्रकृतिके विना स्वयं जगत्की रचना करनेमें तो परिणामित्वादि अनेक दोष आवेंगे । यही सिद्ध किया गया है । क्योंकि ऐसा उपनिषद्वचनोंमें भी आता है ' य एष सुप्तेषु ' इत्यादि । अर्थात् जो स्वप्नावस्थापन्न चराचरात्मक पदार्थोंमें जागरण करता है और सङ्कल्पद्वारा इस विविध जगत्की रचना करता है । और इन रचे हुए पदार्थोंका अधिष्ठान स्वरूप है वही अमृतत्वादि गुण युक्त परब्रह्म है । तो यदि केवल ब्रह्मकोही जगत्का उपादान कारण मान लिया जाय उसका अधिष्ठान, शरीररूप प्रकृतिको न माना जावे तो ऊपर

त्वापतीर्थ । यः कामंकामं=सङ्कल्प्यसङ्कल्प्य विविधात्मकं जगन्निर्मिमीते । यश्च तेषां निर्मितपदार्थानामाश्रयोऽधिष्ठानं वा सोऽयममृतत्वादिगुणोपेतः पुरुषो ब्रह्मेति समासतस्तदर्थः । तद्यदि केवलमेकं ब्रह्मैवास्य चराचरस्य जगतो जन्मादिकारणं मन्येत तदधिष्ठाना शरीररूपा प्रकृतिश्च तत्कारणं नाभ्युपगम्येत तदोपरि निर्दिष्टेयं प्रतिज्ञोपरुध्येत । यतः । प्रकृत्यभ्युपगमेहि भगवतः परब्रह्मणो यथाकामं सङ्कल्पपूर्वकं निखिल जगन्निर्मातृत्वं निर्मितस्य चाधिष्ठानत्वं समुपपद्यते न जातु तदनभ्युपगमे । कुतः ? उच्यते । कामो हि नाम सङ्कल्पोऽभिलाषविशेषोवा । सच ज्ञानिनश्चेतनस्यैव सम्भवी नजात्वचेतनस्य । यथा हि ज्ञानं, स्वाश्रयविषयञ्च नियतवृत्त्या कामयते तथा सङ्कल्पोऽप्येतदुभयमेव समाकाङ्क्षते । नच योयदाश्रयःसएव तद्विषयोपीति युक्तं प्रतिपत्तुं । मिथो भिन्नानामेकत्र समवेतुमनर्हत्वात् । नहि सङ्कल्पयितृत्व सङ्कल्प्यत्वे ज्ञातृत्वज्ञेयत्व-

---

की हुई प्रतिज्ञा का उपरोध होगा । क्योंकि प्रकृतिके स्वीकार करनेपरही ब्रह्मका जगन्निर्मातृत्व तथा उसका अधिष्ठातृत्व होना माना जा सकता है अन्यथा नहीं क्योंकि काम कहते हैं सङ्कल्पको अथवा अभिलाष विशेषको जो चेतनमेंही हो सकती है अचेतनमें नहीं । फिर जिस प्रकार ज्ञान स्वाश्रयमें नियत वृत्तिसे रहता है उसी प्रकार सङ्कल्प भी और जो जिसका आश्रय हो तो वही उसका विषयभी हो यह कभी वन नहीं सकता क्यों कि दो भिन्न पदार्थों का एक ही वस्तु में समवेत होना युक्ति के विरुद्ध है । सङ्कल्प करने वाला और जिसका वह सङ्कल्प करता है ये दोनों बातें एकही नहीं हो सकती इसलिये ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है । और केवल ब्रह्म कोही जगत्का कारण माननेपर दृष्टान्त का विरोध आता है । ' अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव " इत्यादि अर्थात् जिसप्रकार सर्वभूतों के अंदर रहनेवाल

वन्मिथोविरुद्धेजात्वेकत्र सम्भवतस्तस्मात् ब्रह्म जगन्निमित्तकारणा-विशेषाऽधिष्ठानकरणं प्रधानञ्चोपादानकारणामिति निर्विशङ्कम् ।

किञ्च, केवलब्रह्मण एव जगज्जन्मादिकारणत्वाभ्युपगमे दृष्टान्तोऽप्ययमुपरुध्यते " अग्निर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपंवभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च " ( कठ० ५।९ ) यथाहि सर्वभूतान्तरात्माग्निः सकलं भुवनमनुप्रविष्टोवाह्योऽपि सन् प्रतिपदार्थान्तरप्रविष्टोऽस्ति । तथैव जगज्जन्मादिहेतुर्भवाब्धिसेतुः परमेश्वरःप्रतिपदार्थमन्तर्य्यामिरूपेणानुप्रविष्टोऽपि तत्वतस्तेभ्यो वाह्योऽप्यस्तीति । अपि चात्र ब्रह्मणो वाह्यत्वप्रतिपादनं तन्निमित्तकारणत्वस्यैवावगमकम् नतूपादानकारणत्वस्य । कुतः ? । नहि क्वचिदुपादानकारणमग्निवत् तत्तत्पदार्थानुप्रविष्टं सन् वाह्यमपि तिष्ठतीति विदुषां दृष्टचरम् । तटस्थस्यैव तटस्थान्तरप्रवेशः सम्भवति नत्वन्यथा । यथाग्नेरन्यपदार्थेषु । नचोपादानकारणस्य च पदार्थाकारेण परिणततया वाह्याभ्यन्तरोभयत्रावस्थानं यौक्तिकम् । न केवलं व्यपदेशमात्रं ह्यलंभवत्यर्थप्रतिपत्तये । यावत्प्रमाणतुलया न सम्मीयते।नाप्येकस्यैवब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमुपा-

---

सकल भवनों में प्रविष्ट हुआ तथा वाह्यभी वर्त्तमान है और प्रत्येक पदार्थाकारसे परिणत हुआ दीखता है उसी प्रकार जगतका कारण अन्तर्यामि रूपसे उसके अन्दर रहते हुए भी वास्तवमें उससे वाहरभी है। यहां ब्रह्मका वाह्यत्व प्रतिपादन स्पष्ट उसके निमित्त कारणत्व का ही द्योतक है उपादान कारणता का नहीं । क्यों कि उपादान कारण कभी भी कार्य पदार्थोंसे वाह्य अर्थात् प्रथक् नहीं रह सकता यह सभी जानते है। तटस्थ काही तटस्थमें प्रवेश हो सकता है अन्य का नहीं । जिस प्रकार आश्रय का अन्य पदार्थों में । और उपादान का तो पदार्थ के आकारमें परिणत हो जानेके में कारण वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों अवस्थित रहना सर्वथा असम्भव एवं अयौक्तिक है । केवल कथनमात्र से

दानकारणत्वञ्च प्रेक्षावतां विचारसहम् परिणामित्वाद्यनेकदोष-प्रसङ्गात् । कूटस्थनित्यत्वञ्च तस्य श्रूयते न च परिणामि नित्य-त्वम् । तस्मात् प्रकृतिरपि ब्रह्मवत्तच्छरीरकल्पा तज्जगज्जन्मादि कारणत्वे साहाय्यमाचरन्ती कारणमस्तीति स्पष्टं निर्दिष्टसूत्रो-द्दिष्टम् । शरीरात्मकत्वञ्च तस्याबहुशो दृश्यते

१ किञ्च ' एतावानस्यमहिमा ' इति मन्त्रभाष्यमवलम्ब्य 'यावान् संसारोस्ति " इत्यत्र संसारपदवाच्यं किमिति ? किं नित्यानित्यं दृश्यादृश्यसाधारणं ब्रह्माण्डम् ? यावत्कार्यमात्रम् ! " इति पक्षद्वयमुत्थाप्याद्यं पक्षंनिराकुर्वता " नहिपरमात्मा......जीवात्मानं प्रकृतिं वा निर्मिमीते । तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात् । ननु सर्वेशितृत्वमेवमा-हात्म्यं परमात्मनो नोत्पादकत्वं विनाशकत्वं वेति चेत् सत्यं ? सर्वे-शितृत्वमपि परमात्मनः स्वरूपं ? अथ निर्धर्मके ब्रह्मणि काल्पनिक-धर्म्मापादनम् ? उत वास्तविकधर्म्मापादनमिति ? स्वरूपत्वे सर्वे-

---

ही कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती जबतक कि उसके लिये काफी प्रमाण नहीं । इसलिये कूटस्थ ब्रह्म जगत् का कदापि उपादान कारण नहीं हो सकता । प्रकृतिसेही वह जगत् को रचता है । यहीं ऊपर कहे हुए ' प्रकृतिश्च " इत्यादि वेदान्तसूत्र का आशय है । जो हमारे ही पक्षकी पुष्टि करता है न कि आपके । श्रीमन् ?

१–किञ्च ' एतावानस्य महिमा " इत्यादि मन्त्रके भाष्यको लेकर ' जितना संसार है " इस वाक्यमें संसारपद वाच्य क्या वस्तु है । नित्य अनित्य दृश्य अदृश्य ब्रह्माण्डका स्वरूप वा कार्यमात्र ! इस प्रकार दो पक्ष उठाकर, प्रथम पक्षका निराकरण करते हुए ' परमात्मा जीवात्मा अथवा प्रकृति को नहीं बनाता है अन्यथा जीव तथा प्रकृति दोनों ही अनित्य हो जावें गे । क्यों कि सबका स्वामी होना ही परमेश्वरका ईश्वरत्व है सबका उत्पादन करना नहीं वास्तविक धर्मका ? यदि स्वरूप पक्ष माना जाय तो जगन्निर्माणमें सर्व शास्त्रसम्मत धर्म्मअधर्म की अपेक्षा न रहेगी । क्यों

शास्त्रसम्मता धर्म्माधर्म्मापेक्षा न सम्भवति । नहि नित्यपूर्णम-प्रतिहतशक्ति किञ्चिद्वस्तु कार्यापादने साहाय्यमपेक्षते तथा सति स्वरूपनाशस्तस्य स्यात् । उत्पत्त्यादौ धर्म्माधर्म्मापेक्षत्वं परमात्मनो " वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वादित्यादिकं यद्बहुलं प्रललाप तदप्य-प्रासङ्गिकम् । ' यावान् संसारोऽस्ति ' इति पदेन कार्यमात्रजगतस्सु-तरामाश्रयणात् । न केवलं कार्यमात्रे जगत्येव परमात्मनो महिमा परिसमाप्यतेऽपितु ततः परत्रापीति स्पष्टं ध्वन्यते । नच वाच्यम् परमेश्वरस्य सर्वेशितृत्वस्य स्वरूपत्वस्वीकारे तस्य धर्म्माधर्म्मे सापे-क्षत्वेन स्वरूपविनाश एव स्यादिति, तन्नियोजनस्य हि धर्म्माधर्म्मा-धीनत्वात् । अन्यथाऽन्येपि सर्वे तेते श्यामत्वादिधर्म्माः परिपीड्येरन् । यथाहि दृश्यते लोके न्यायाधीशस्य सर्वतदधिगत-नियन्त्रणादिकाधिकारस्वातन्त्र्यं, तन्नियोजनन्तु यथापराधम् । नच

---

कि नित्य परिपूर्ण अप्रतिहत शक्ति परमात्मा किसी दूसरे सहायक की अ-पेक्षा न करेगा । यदि दूसरेकी अपेक्ष करेगा तो उसके स्वरूप नाश होनेकी आपत्ति आयेगी । जगत्की उत्पत्ति तथा विनाशमें परमात्माको दूसरे की अपेक्षा है इस बातको व्यासने द्वितीयाध्यायके पहिले पादमें वैषम्य नैर्घृण्याधिकरणमें अच्छे प्रकारसे निरूपण किया है " इत्यादि जो बहुत लम्बाचोडा लिखमारा है वह भी अप्रासङ्गिक है । क्यों कि " यावान् संसारोऽस्ति " इसपदसे स्पष्ट रीतीसे कार्यमात्र जगत्काही ग्रहण होता है । न केवल कार्यमात्र जगत्मेंही परमात्माकी महिमा समाप्त हो जाती है किन्तु उसके परेभी यह स्पष्ट इससे ध्वनित होता है । और यदि यह कहो कि परमात्माका सर्व स्वामी होना रूप स्वरूपही उत्पादक होना अथवा विनाशक होना नहीं । यदि यह कहो तो ठीक है सबका स्वामी होना भी परमात्माका स्वरूप है । निर्धर्मक ब्रह्ममें काल्पनिकधर्म्मका स्वीकार करनेपर उसका धर्म्म अधर्म्म सापेक्ष स्वरूपका ही विनाश हो जायगा तो ठीक नहीं । क्योंकि उसका विनियोग तो धर्म अधर्मके अधीन

सदा न्यायाधीशेन तन्नियुज्यमानैव स्थीयते। भवतिच भूयान-वकाशः तादृशापराधाऽभावे। किं तादृशेऽवकाशे न्यायाधीशस्य स्वरूपमेव विलुप्यते ? कुतस्त्योऽयमलौकिक स्तर्कस्ते घनश्याम ? महात्मन् ? ईशितृत्वगुणस्याधिकरणं हि परब्रह्म तच्च तत्र त्रिका-लाबाध्यतया वरीवर्त्ति, अस्ति च तद्धर्म्माधर्म्मनिबन्धनमेव। निरङ्कुशेशितृत्वञ्च केन प्रतिपादितम् ? कुत्र वा ? किमेतद्विजयाप्रभा-वादेव प्रलप्यते ? एतावताऽन्येऽपि समस्ताः कुतर्का अपास्ताः।

२ किञ्च "अतोज्यायांश्चपूरुषः" नैतावन्मात्र एव महिमेति ? किन्तर्हि? अतोऽप्याधिकतमो महिमास्तीतिगम्यते इत्येतदपि मुण्डिनो वेदार्थानभिज्ञत्वविजृम्भणमात्रम्। नात्र चकारोभिन्नक्रमः इत्या-दिकमपि तस्योन्मत्तप्रलापवदेव। कुतः ? नहि स्वामिना चकारस्य

---

है। अन्यथा दयामयत्वादि अन्य धर्म भी तो व्याहत हो जावेंगे। जैसे लोकमें न्यायाधीशके यह अधिकारकी बात है चाहे दण्डदे चाहे छोडदे परन्तु इस अधिकार का प्रयोग अपराध के अनुकूल ही तो होगा। यह तो नहीं हो सकता कि विना किसी अभियोग के भी वह हमेशा उस अधिकार का प्रयोग ही करता रहे ! और कई वार ऐसा होना सम्भव है कि जब कोई केस न हों अथवा न्यायालय वगैरा बन्द हो। उस अवकाशमें यदि न्यायाधीश अपने अधिकारों का प्रयोग न करसके तो इसका अर्थ यह थोडा ही होसकता है कि उसका स्वरूप ही विलोप होगया। घनश्यामजी यह आप का अलौकिक तर्क कैसा ? महात्मन् सर्वेशतृत्व का अधिकरण ब्रह्म है और वह उसमें सदा रहता है और वह स्वामित्व अवश्य नियम धर्म तथा अधर्मके अधीन है। ईश्वरके निरङ्कुश ईश्वरत्वका किसने और कहां प्रतिपादन किया है जरा बता-इये तो सही ? इसीसे इनके एतद्विषयक अन्यभी आक्षेपों का उत्तर हुआ समझलेना चाहिये।

भिन्नक्रमत्वमत्रानिर्दिष्टम् । स्पष्टमेवोक्तं यद्भगवतो महिमा केवलमेतावानेव नास्ति किन्तर्हि ? अतोऽप्याधिकतमोऽस्ति यतोहि पूरुषोऽतो ज्यायानस्तीति । एतावन्माहिमापेक्षया पूरुषस्य ज्यायस्त्वप्रतिपादनेन तन्महिम्नोऽपि ज्यायस्त्वं सुतरामापतितम् ।

३ यच्च " ( पादोऽस्य विश्वा ) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथ्वीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति, एकस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते " इत्यपि न युक्तं-' प्रकृत्यादिपृथिवीपर्य्यन्तानीति व्याख्यया पदानां तात्पर्यस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् इति " तदपि केवलमस्य बालिशत्वमेव । तस्य तु कोमलधियां बालानामप्यप्रयासेनैवाधिगन्तुं शक्यत्वात् । प्रकृत्यादिपृथिवीपर्य्यन्तानि भूतानीति पदेन सर्वस्य चराचरस्य स्थावरजङ्गमस्य जगतःस्वरसतोग्रहणं सौलभ्यलभ्यमप्यस्मै घनश्यामाय घनायत इतिभ्रशमाश्चर्यम् । आलोचनीया

---

किञ्च ' इतना ही ज्यायान् ( बडा ) परमात्मा है " इतनाही नहीं किन्तु इससेभी अधिक महिमा उसकी प्रतीत होती है । यह कथनभी मुण्डीदयानन्द के वेदार्थकी अनाभिज्ञता काही परिचायक है क्यों कि यहांपर चकार भिन्नक्रमवाला नहीं " इत्यादि कथनभी पं. घनश्यामजी कामत्तप्रलापके तुल्यही है । क्योंकि स्वामीजीने चकारकी भिन्नक्रमता यहां नहीं दिखाई है । यहां साफ कहा है कि उसकी महिमा केवल इतनी ही नहीं किन्तु इससे अधिक भी है । क्योंकि परमात्मा स्वयं इससे बड़े है । बड़े होने सेउनकी महिमाभी स्वयंही बडी हुई । इसमें आपको आपत्ति क्या है ।

और जो " पादोऽस्यविश्वाभूतानि " सम्पूर्ण प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यंत जितने भूतमात्र हैं वे सब परमात्मा के एक पादके तुल्य हैं इत्यादि व्याख्याभी दयानन्दकी ठीक नहीं । क्यों कि इससे पदोंके तात्पर्य का बोध हरागेज नहीं होसकता घनश्याम जीका यह कहना भी सर्वथा अनादरणीय है । क्योंकि इसको तो बालक भी समझते हैं कि उक्त व्याख्यासे प्रकृतिसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त जितना चराचर अथवा स्थावर जङ्गम जगत् है यह स्वरस-

चास्य महामतेः किञ्चिद्वाचोयुक्तियौक्तिकैः । " यन्नहिप्रकृतिमारभ्यपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतानि एव भूतातिरिक्तानां प्रकृतिमहदहङ्काराणामपि सत्वादिति । महात्मन् कुतोऽयमनिराकरणीयमतिविभ्रमविलासस्त्वयि विलसति। नूनमसौ किमपि निपीय प्रवृत्तोलेखने ? इत्यनुमीयतेऽस्य वाचोभङ्ग्याऽन्यथाकथङ्कारमिवेत्थं प्रलपेत् ' नहि प्रकृतिमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतानि एवेतिचेत्सर्वाणि न सन्ति तर्हि भवन्नयेन कतिपयानि तु तेषु भूतानि सन्तीति ध्वन्यते तच्च कियद्यावद्युज्यते सुधीभिरेव विचार्य्यम् । हन्त परं निगडयितुं प्रचलितः स्वयं निगाडितोस्त्यधुना ? घनः ।

यच्च किंविधद्योतके संसारे कीदृशं त्रिपाद् जगदिति ? किन्तदेकगुणं प्रकाश्यमानं ? किञ्च त्रिगुणं प्रकाशकम् ? किंपुनरत्र दयानन्दस्याभिमतम् ? किञ्चात्र युक्तमिति वहुधा सावधानं विचारयन्नहमसुमर्थं सर्वमपि नाज्ञासिषमिति यत्तत्तु युक्तमेव

---

तया ग्रहण होजाता है परन्तु घनश्याम जी को यह घनकेसमान ही मालूम होता है आश्चर्य है। आगे आप फरमाते है केवल प्रकृतिसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त, इसपदसे इनके अतिरिक्त महदहङ्कारादिका ग्रहण कैसे होगा ? वाह क्याही अकलमन्दी का प्रश्न है ! इनके मतमें महदहङ्कारादि ' प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यन्त से कहीं बाहर रहते होंगे तो किसे मालूम ! घनश्याम जी अच्छा होता कि आप इस विषयमें तो चुपही रहते ताकि आपकी अक्लमन्दी तो न जाहिर होती अफसोस दूसरे को फंसाने चलथे किन्तु वेचारे श्याम खुदही फंसगये !

और घनश्याम जी का यह कथन भी कि द्योतक संसार कैसा है ! और उसमें त्रिपाद् जगत् क्या बला है यह त्रिगुण प्रकाशक क्या है युक्तायुक्त का कुछ तो विचार किया होता हमे तो यह उलूल जुलूल कुछ समझमें नहीं आता " बिल्कुल ठीकही नहीं क्यों कि शास्त्रतत्वानभिज्ञ पुरु-

भवत्यनभिज्ञानां प्रायश इत्थमेव दुरवबोधः । आयुष्मन् कस्यचिद्विद्वदाचार्यस्य चरणारविन्दमिलिन्दोभव ! यच्चानेन यजुर्वेदभाष्यगतामेतन्मन्त्रव्याख्यामुद्धृत्य मिथो विरोधः प्रदर्शितस्तत्तु विद्वद्भिरेव विचारणीयः कथमत्र विरोधो नेत्रपात्रीकृतोभवेत् ? । भूतानि-पृथिव्यादीनीति यजुर्वेदभाष्ये प्रकृतिमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानीति ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् । कीदृशोऽत्र विरोधः सक्षणमालोच्यमानैरस्माभिस्तु नाद्यापि समधिगतः। कोनामान्यो वदान्यः अत्र विरोधं प्रकटये द्घनश्यामादृते। अनेन वराकेण विरोधशब्दार्थोऽपि समधिगतन इत्यनुमीयते । प्रण्डितम्मन्य ? धन्योऽसि नूनम् ? ।

४ किञ्च यत्सायणीयभाष्यमुल्लेख्य "अतीतादि कालादिविशिष्टं यावज्जगदस्ति सर्वोप्येतावानस्य पुरुषस्य महिमा=स्वकीय सामर्थ्यविशिष्टो विभूति र्न तु पुरुषरूपम् वास्तवपुरुषस्त्वतो जगज्जालाज्ज्यायानित्यादिकं तदपि नितरामसमञ्जसम् । तर्कविरोधात् ।

---

षको ये बारीक मसले किसप्रकार समझमें आसकते हैं ! किसी आर्य विद्वान्के चरणकमल के भृङ्ग बनो तब ये गूढ तत्व समझमें आवेंगे ! वैसे नहीं आसकते ?

आगे चलकर आप लिखते हैं ! इसी वेदमंत्रके भाष्यमें स्वामी जीके लेखः में परस्पर विरोध है ! क्योंकि यजुर्वेदभाष्य में तो भूतानि ' इस पदका अर्थ पृथिव्यादीनि यह किया और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें 'प्रकृतिसे लेकर पृथिवीपर्यन्त यह अर्थ किया है" जरा यहां विद्वान् लोगही विचार करें कि घनश्यामजीने क्या विरोध देखा । एक जगह संक्षेपसे तथा दूसरी जगह उसी बातको ज़रा विशद् करके लिख दिया इसमें क्या विरोध होगया ! मालूम होता है आपने अभी विरोध शब्दका अर्थ भी नहीं समझा अन्यथा आप कभी भी ऐसा न लिखते !

तथा— सायणाचार्य के भाष्यका उल्लेखकरके 'अतीतादि कालादि विशिष्ट जितना जगत् है" वह सब इस परत्माकी ही महिमा हैं अर्थात्

नहि तर्केण तादृशं सूपपन्नं भवति । तथाच, कीदृशः स्वकीय-सामर्थ्यविशिष्टो महिमा किं वास्तवो, मिथ्या वा ? अवास्तवश्चेत् तदीयसामर्थ्यस्य तत्वापत्त्या ( अवास्तवत्वापत्त्या ) सोपि तादृश एवावास्तवोऽस्तीति प्रसज्यते । चेद्वास्तव इत्यनुमन्यते तर्हि साधारणजनस्येव सोपि भवतां नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपो पुरुषः सदातनबन्धननिबन्धनेन व्याकुलीभवेत् । इत्युभयतःपाशारज्जुः । तथा सति सायणीयमादरणीयं श्रीमद्दयानन्दीयं वेति किञ्चित्स्वयमेव प्रणिभाल्यताम्।स्वस्वरूपेतिपदमवलम्ब्य यद्बहूपहसितं तत्किञ्चत्सायणीयमेव स्वप्राकाशस्वरूपमिति दृष्ट्वा किन्न चेतस्तेस विक्लवम्? महाभाग! मानुषिकनिसर्गजन्यदृष्ट्यादिदोषदर्शनमात्रपरत्वाद्भवतामेव शस्त्रानभिज्ञत्वमाविर्भवति नतु परमतत्त्वजुषा मेधां विदुषाम् ? सम्भवन्ति हि

---

शक्ति विशिष्ट विभूति है वास्तवरूप नहीं वास्तवपुरुष तो इस जगज्ज ल से अत्यन्त अधिक है। यहभी आप का कथन सर्वथा अयौक्तिक है। क्यों कि यह तर्क से विरुद्ध है। यह बात कभी भी तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती । तथाहि । उसकी महिमा कैसी है । स्वसामर्थ्य विशिष्ट महिमा क्या वास्तव है या अवास्तव ! यदि अवास्तव अर्थात् मिथ्या है तो उसके सामर्थ्य के मिथ्या होने से वह भी मिथ्या क्यों हो जायगा ? यदि वास्तव मानो तो साधारण मनुष्योंकी भांति परमात्मा को भी नित्य बन्धन में पडे रहने की आपत्ति से आप छुड़ा न सकेंगे । इसी लिये महर्षि दयानन्दजी का ही भाष्य आदरणीय है सायणाचार्य का नहीं । अयौक्तिक होनेसे वह त्याज्य है ।

आगे चलके आपने स्वामीजीके 'स्वस्वरूप' इस पद की बड़ी हंसी उड़ाई है। इसके लिये हमारा कथन यह है कि अर्थ पर दृष्टि रखने वाले पुरुषकी कभी २ शब्दमें भूल हो ही जाती है जोकि भूल नहीं समझनी चाहिये । आप स्वामीजी के वाक्य को पीछेसे देखिये पहिले सायणाचार्यके वाक्यकोही देख लीजिये उन्होंने भीतो स्वप्रकाश स्वरूप

निपुणतरं प्रेक्ष्यमाणानां निपुणानां विद्वज्जनानां स्खलनं, समवलोक्यते च, साहित्यामृतसरोविहारिणां यौक्तिमौक्तिकाभ्यवहारिणां समीक्ष्यकारिणामपि, सहजदृष्ट्यादिदोषवशाद्बहुशोविलोक्य सञ्चारिणामपि प्रमादाः । तत्किमेतावतैव तेषां, वैदुष्य, मलौकिकी प्रतिभा, लोकोत्तरं नैपुण्यं, विस्मयकरीचातुरी, च वचनीयतामापद्यते ? नैवं, नैवञ्च, कदापि ! एष खलु भवतां भूयान् विभ्रमः ? अस्ति वाकश्चिदेतादृशो येनक्वचिन्न स्खलितम्भवेत्? किंभगवता*शङ्कराचार्येण नस्खलितं, किं सायणाचार्येण नालेखि किमप्यशास्त्रीयं, बहुशोऽसकृच्च तैरपि महानुभावै स्तत्रतत्र

पद दिया है । यदि दो वार 'स्व'पदका लिखना ही आपके हास्यका कारण हुआ तो प्रथम अपने सायण कोंही हंसिये ?
भाई ये तो स्वाभाविक दृष्टि दोष वशसे सभीसे होना सम्भव है इतने मात्रसे क्या कभी उनकी विद्या एंव ज्ञान कलङ्कित हो सकता है कदापि नहीं । इस प्रकार तो बड़े २ निपुण शास्त्रज्ञोंसे भ्रम होना सम्भवही नहीं किन्तु भ्रम हुआ है । देखिये यद्यपि हमारा विल्कुल इरादा नहींथा एसे वातोंको लेकर हम शङ्कराचार्य आदि पर कलम उठायें किन्तु आपके सन्तोषके लिये दो एक उदाहरण दिखाते है । शङ्कराचार्यजी महाराजने छान्दोग्य उपानिषद् ( १–६–१ ) में 'ऋक् साम्नी नाप्यत्यन्तभिन्ने ऐसा पद लिखा है । यहां 'ऋक्साम्नी ' यह व्याकरणकी दृष्टिसे विल्कुल अशुद्ध है क्योंकि ' अचतुर विचतुर ' इस सूत्रसे इसमें अजन्तत्व निपातन होनेसे ' ऋक् सामे ' ऐसा प्रयोग होना चाहिये । किन्तु शङ्कराचार्यने ' ऋक् साम्नी ' रखकर घनश्यामजीके शब्दोंमें यदि हमभी कहने लगेंकि अपना व्याकरण

* तथाहि छान्दोग्योपनिषदि ( १–६–१ ) ' ऋक् साम्नी नाप्यत्यन्तभिन्ने ' इत्यत्र ' ऋक्साम्नी ' तिरूपं चिन्त्यं अचतुरविचतुरेत्याद्यनुशासनेनाजन्तत्वनिपातना ' ऋक्सामे ' इत्यस्यैव साधुत्वात् । अपिच ' एकत्र ( ८–८–४ ) गच्छेता मिति समुल्लिखितं तत्राप्यात्मनेपदं चिन्त्यम् ।

तथा चरितं ! किन्तु तत्केवलं निसर्गजन्यदृष्ट्यादिदोषवशगैरेव ( by sleeping mistakes ) अतो नैतावता केनापि कथञ्चि त्तेषां प्रकाण्डपाण्डित्यं कलङ्कयितुमुत्सह्यते । तथा कुर्वतस्ते श्याम-हृदयं निर्दयन्न भिद्यते किम् ? श्याम ?

५ अथ आकर्षानुकर्षणविषयमुद्दिश्य यत्समालोचितवानयं महानुभावः " दुर्जनतोषन्यायेन मन्त्रव्याख्यानादौ यथाप्रतिज्ञं दयानन्दस्याकर्षणविद्याऽत्र मन्त्रे स्वीक्रियेतापि, तथाप्यस्मिन् पक्षे नोक्तोर्थोऽस्यभवितुमर्हति । यदि परमात्माऽपि सर्वलोकैः सहाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽङ्गीक्रियते तदा प्रत्यात्मवेदनीय मेकदेशित्वमेवास्यस्यादिति तदपि नूनमस्य मौग्ध्यमेवासर्वलोकाकर्षणविधारण-क्षमस्य परमात्मन एकदेशित्वापत्तेः कालत्रयेणापि साधयितुमश-

---

शास्त्रका अज्ञानही प्रकट किया है तो कहांतक उपयुक्त है यहस्वयं ही विद्वज्जन विचार करें। एक जगह नहीं अनेक स्थलोंपर ऐसी गलतीहुई है। एकजगह आगे चलकर ( ८८–४ ) में ' गच्छेताम् यह प्रयोग दिया है यहांपरभी शुद्ध ' गम् ' धातुका आत्मने पदमें प्रयोग चिन्तनीय है। क्या इतने मात्रसे उनके पाण्डित्यपर कलङ्क आजायगा ? । हरगिज नहीं केवल असावधानतासे ऐसा होजाना बहुत सम्भव है । हां यदि सिद्धान्तों में कहीं भेद प्रतीत हो तो उसका खण्डन करना अवश्यही विचारास्पद है । इसी प्रकार भाई घनश्यामजी यदि आप सिद्धान्त लेकर कुछ लिखते तो ठीक था यह व्यर्थ बालक्रीडा कर क्यों विचारशील पुरुषोंके हास्यास्पद बनें ।

' कर्षानुकर्षण विषयको लेकर ' जो आपने समालोचना की है ' दुर्जनतोषन्यायसे यदि प्रतिज्ञाके अनुसार दयानन्द का यह कहना ' वेदोंमें आकर्षण विद्या है तो भी यह आक्षेप आयगा ' यदि परमात्म-कोभी कर्षानुकर्षण गुण वाला माना जाय तो वह भी प्रत्यात्मवेदनीय तथा एकदेशी होजायगा " इत्यादि यह भी पण्डित घनश्यामकी

क्यत्वात् । नहि धारणकर्षणादिगुणः परिच्छिन्नत्वद्योतक इति कस्यापि सम्मतम् । अन्यथा-' सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमाम् " ( यजु० अ. १३ म. ४ ) " येन स्वस्तभितं " ( यजु० अ. ३२ म. ६ ) इत्यादयो मन्त्रा अपि व्याकुलीभवेयुः । नूनमस्य पण्डितप्रकाण्डस्य लोकोत्तरोऽयं तर्कः । यत्स्वाभाविका अपि गुणाः परमेश्वरस्य दोषापादकाः संवृत्ताः ! हन्त ! जितमौद्दण्ड्येन ! " अहो एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि । द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः " " अमृतस्यैव सेतु विधारणो लोकानामभिसम्भेदाय " इत्याद्यौपनिषद्वचने ब्रह्मणो विधारणक्षमत्वं प्रतिपादकमपि निरुक्तार्थं निराकर्तुकामोऽयं श्यामः किं वर्षसहस्रेणापि पूर्णकामोभविष्यति ? न कदापि स्पष्टमेव निर्दिष्टमन्त्रे समुपदिष्टं यत् ' अक्षरस्य प्रशासने गार्गि । "

---

मुग्धताही है । क्योंकि सम्पूर्ण लोकोंका आकर्षण धारण पोषण करनेवाला परमात्मा कभी भी एकदेशी नहीं ठहर सकता । धारण आकर्षण आदि गुण किसी के मतसे भी परिच्छिन्नत्व द्योतक नहीं । ये तो शक्ति एवं गुण विशेष हैं । यदि घनश्यामजीका ही कहना माना जावे तो ' सदाधार पृथिवीद्यामुतमां " अर्थात् उस परमात्माने द्यौ तथा पृथिवी दोनों को धारण किया हुआ है "येन स्वस्तभितं" जिसने सर्वजगत्को स्तम्भित किया हुआ है इत्यादि उक्तार्थ को प्रतिपादन करने वाले अनेक श्रुतियों का विरोध आवेगा । देखिये तो जरा घनश्यामजी की कैसी अलौकिक तर्कचातुरी है आप ने परमेश्वर के स्वाभाविक गुणोंकोभी तो दोषाधायक ठहराया है । भला इस उद्दण्डता काभी कोई ठिकाना है ? । उपनिषदोंमें भी स्पष्ट आया है 'एतस्य वाक्षरस्य गार्गि ! प्रशासने द्यावापृथिव्यौ विधृतः" अर्थात् हे गार्गि' उस अक्षरके प्रशासन आज्ञामें ये द्यावा तथा पृथिवी थमे हुए है इत्यादि । उपनिषद्वचनोंमें स्पष्ट रीतिसे परब्रह्म के सकल लोकको धारण क्षमता के निराकरणमें पडिण्त घनश्यामजी सहस्रों वर्ष पर्य्यन्त प्रयत्न करने परभी सफल प्रयत्न नहीं होसकेंगे। आपकी शङ्का

इति किन्नाम प्रशासनत्वं ? किमीश्वरः प्रशासनेन आज्ञाविशेषेण लोकं धारयति ? पृथिव्यादि चेतनवत्तदनुशासनं निशम्य तथाकुरुते ? किमेतत् समस्त विपर्यस्तमिवाभाति ? मैवं महात्मन् अत्र हि प्रशासनपदेन तदीयधारणाकर्षणादिशक्तिविशेषा एव निर्दिश्यन्ते इति ।

६ यच्चात्रमन्त्रे 'आकर्षणविद्यास्तीत्येव न सम्भवाति । 'आकृष्णेन' इत्यस्याकर्षणगुणेनेत्यर्थं प्रतिपादयन् स्वहार्दमेव कठोरं कार्ष्ण्यं वहिराकृष्य प्रसारयाति [ अहो शोभनोऽयं पदविन्यासः " कठोरं-कार्ष्ण्यं बहिराकृष्य, प्रसारयति " 'श्याम' ताया 'घन' इति विशेषणन्तु श्रुतचरम् । 'कठोर' इति त्वद्यावधि

---

तो सुनिये ! आप फ़रमाते हैं । उक्त वचनमें 'प्रशासन' शब्दका क्या अर्थ ? क्या आज्ञा ? यदि आज्ञाही अर्थ है तो पृथिव्यादि लोकभी चेतनके समान परमेश्वर की आज्ञा सुनते तथा तदनुसार चलते हैं ! यह क्या सब उलूल जलूल बक डाला है' इत्यादि । क्या खूब प्रश्न है ? भाई परमात्मा की आज्ञा अथवा प्रशासन मनुष्योंके सदृश हुक्म चलाना नहीं किन्तु प्रशासन शब्दसे उसकी धारण अकर्षणाहि शक्तियों की तरफ़ही निर्देश किया जाता है । ज़रा भावको समझने की भी तो कोशिश किया कीजिये केवल शब्दपण्डित ही न बनेरहिये ?

आगे चलके आप लिखते हैं कि इसमन्त्रमें ही आकर्षण विद्याविधान नहीं । आकृष्ण शब्दके ही आकर्षण अर्थ कर दयानन्दने अपने हृदयकी कठोर कालिमा को ही निकालकर वाहर रख दिया । क्या गजबका पदविन्यास । 'कठोर कार्ष्ण्यं बाहिरा कृष्य प्रसारयति' कालिमाकी सघनता deepness गहराई तो सुनीथी किन्तु 'कठोरता' अभी तक नहीं सुनीथी चलो आज वह भी सुनी सही क्यों नहों, ककारोंका अनुप्रास तो मिला न ? आखिर को आप कविही ठहरे ? अथवा कदाचित् इस भय से अपने श्यामका विशेषण घन न दिया हो कि कहीं उससे आपके 'इस्मशरीफ़'

न श्रुतं, केवलमद्यैव दृष्टम् । अथवा स्वनामस्मृतिहेतुकत्वभिया न तथाचरितं स्यात् ?, किन्नस्यात्कविरसि ! ! ! ] इति तदपि चिन्त्यम् । तथाविधार्थस्यैव युक्तियुक्तत्वात् वैज्ञानिकत्वाच्च । अयंवराकस्तु उव्वटमहीधरभाष्यधुरं शिरसि निधायान्ध इव परितो नृत्यति ? मक्षिकास्थाने मक्षकापातमेव प्रकर्षयति नव्यं भव्यमपि वस्तु चापकर्षयति ? अत एव तु " आ इति पदं, वर्तमानः " इत्यनेन सम्बद्धं तथाप्यय ( ऋषिः ) माकर्षणगुणेन ' व्यवहिताश्चेति पाणिनीयमभिधानं सर्वथा विस्मृत्य कृष्णेनेति पदेन ' कथं योजितवानिति नूनमेनं विस्मापयति । परं तादृशमनाचरता महर्षिणा

काही स्मरण नहो जाय? आपको स्मरण रखना चाहिये घनश्यामही श्यामता फैला सकता है आनन्दकन्द स्वामी दयानन्द नहीं ! वास्तवमें ऋषि दयानन्द की ही व्याख्या युक्तियुक्त है । घनश्यामजी तो सायण महीधरकी धुराको सिर रखकर नाचते है । माक्षिकाके स्थानमें मक्षिकापात उनको सुशोभित लगता है । कोई नवीन तत्व पसन्द नहीं आता । कहते हैं ' कृष्णेन रजसाआवर्तमान " इसके स्थानमें ऋषिने ' आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः " ऐसा क्यों करादिया क्या उनको ' व्यवहिताश्च " यह पाणिनीय सूत्र याद नहीं रहाथा । भाई हम पूछते है यदि ' आका वर्त्तमान के साथ योग नकर अर्थसौष्ठव के लिये कृष्ण के साथही किया तो इस में दोषक्या हुआ यहतो आप बताइयें? और आपने यह भी विचारा कि ऋषि के भाष्यमें और सायण महीधरके भाष्यमें कितना ज़ामीन आस्मान का फ़रक होगया । कहां ऋषिका युक्ति सिद्ध वैज्ञानिक अर्थ ! और सायणका असम्बद्ध प्रलाप कहां ? विद्वज्जनों के लिये हम यहां महीधरके अर्थ लिखेदेतेहैं वेही स्वयं देख विचारकर अपनी सम्मति स्थिर करें । महीधर कहते हैं ( सविता देवः आगच्छति ) सूर्य देवता आता है " ! यहां हम पूछते है कि देवशब्दसे किसका ग्रहण है. परत्माका यासूर्यका ? यदि परमात्माका तो ठीक नहीं क्योंकि उसमें

किमत्याहितमिति साधयितुमसमर्थोऽयंव्यर्थमेवेदं मुहुर्मुहुःशिरो विधुनोति चेदत्र कस्यापराध इति विद्वद्वर्णैरेव निपुणं प्रणिभाल्यताम् ।

किञ्च महीधरीयं भाष्यमुद्धरताऽनेनाविष्कृतंमतिकुण्ठितत्वम् । क्व खलु महर्षे वैज्ञानिकं यौक्तिकं भाष्यं क्वचेदं महीधरीयमसङ्गतम् बुद्धिविरुद्धम् । तथाहि " सवितादेव आयाति=आगच्छति " इत्यत्र देवशब्देन किं गृह्यते परमात्मा सूर्य्योवा ? आद्यश्चेन्न भगवति व्यापके तस्मिन् गमनागमनानुकूलव्यापारस्यासत्वात् । चेदन्त्यस्तदपिन " कृष्णेन रजसा=रात्रिलक्षेणनसहेत्यर्थकेन पदेन सह तस्यासामञ्जस्यात् भुवनानिपश्यन्नित्यस्यासंश्लेषाच्च । नहि रात्रिलक्षणस्य रजसः सूर्येण सहभावःसमुपपद्यते आनन्तर्यं तस्य तयोर्वा श्रुतचरं नतु साहचर्य्यम् । नूनम्महीधरेण तस्य तथात्वंप्रतिपादयता सर्वथाऽपि श्रुतिरहस्यानभिज्ञत्वमेवाविष्कृतम् । अपिच चेत्सूर्य एव देवपदेन भवदभिमतस्तर्हि ' भुवनानिपश्यन्निति ' पदं सर्वथाप्यसंश्लिष्टं भवति । प्रथमन्तु सूर्य्यस्येक्षाणनुकूलव्यापारवत्तैव नसम्भवति ।

---

व्यापक होने कारण गमन आगमनही नहीं सिद्ध होसकता ! यदि कहो सूर्य तोभी ठीक नहीं क्योंकि ' कृष्णेन रजसा ' रात्रिलक्ष अन्धकारके साथ सूर्यका योग होना नितान्त दुर्घट है क्योंकि रात्रका और सूर्य का साहचर्य बिल्कुल असम्भव है ।

इस लिये उक्त भाष्यसे महीधर की वेदार्थरहस्य की अनभिज्ञताही प्रकट होती है । और यदि ' दुर्जन तोष न्यायसे ' कथञ्चित् मान भीलिया जाय कि सूर्य का ही ग्रहण है तो फिर आगे के वाक्यसे सङ्गति नहीं बैठती क्यों कि आगे लिखा है ' भुवनानि पश्यन्" सूर्य क्या करता हुआ आता है भुवनों को देखता हुआ । जड़ सूर्यमें ' देखना ' ईक्षण कहां तक सम्भव है यह विद्वान् लोगही विचारलें । यहीं तक नहीं इसके आगे चलकर लिखते हैं क्या देखता हुआ आता है ? उत्तर ' कानि साधु कुर्वन्ति कानि असाध्विति विचारयन्' कोन अच्छा कररहा है और कोन बुरा

जडत्वात् । कथञ्चित्तत्स्वीकारेऽपि तदनुपदमेवच ' कानि साधु कुर्वन्ति कान्यसाध्विति विचारयन् " इत्यादौ सूर्य्यस्य विचारप्रचारत्वं कथमिव युज्येत ? तदित्थं सर्वमेव महीधरीयंभाष्यं चिन्त्यमनादरणीयञ्च विद्वद्भिरिति । महर्षेरेव स्वीकरणीयञ्चेत्यल मतिप्रधावनेन ।

१-अपिच "तेजोऽसि" इत्यादिमन्त्रामलोचयन् ' तदनुयायिनस्तु न केवलं वेदार्थानभिज्ञाः, अपितु " सवर्थाप्यक्षरमात्राऽनभिज्ञाः " इति यल्लिलेख तेन तत्रापि रेखाङ्कितपदेनानुमीयत एवास्य सत्यभाषित्वम् । अथवा विजयाविजितोऽयं ब्राह्मणब्रुवः किन्न ब्रूयात् । विशदबुद्धे ! सर्वं खलु त्वच्चेष्टितंस्थान एव ? नूनं गालिप्रदाने दीक्षितोऽसि ।

" किञ्च शरीर बुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्यादि " इत्यत्र शरीरबुद्धीतिपदद्वयस्य मुधात्वं प्रतिपादयतोऽस्य बुद्धिवैशारद्यमेव ! विज्ञातं भवति

---

यह विचारता हुआ आता है । क्या खूब ! ऊपर तो सूर्य देखता हुआ आताथा किन्तु अब वह विचार भी करता हुआ आता है । सूर्य भी तो विचारता है न ? क्यों घनश्यामजी ! इसप्रकार महीधरका भाष्य सर्वथा चिन्तनीय तथा आदर के योग्य नहीं महर्षि दयानन्दका ही ठीक है ।

१ आगे चलकर ' तेजोऽसि तेजोमयि धेहि " इस मन्त्रको लेकर आप लिखते है कि दयानन्दके अनुयायी तो वेदार्थ से अनभिज्ञ ही नहीं कि नितान्त अक्षरमात्र से भी अनभिज्ञ है अर्थात् सर्वथा निरक्षर है । इस कथन में कहांतक सच्चाई यह विद्वान् लोग स्वयं ही विचारलें ! इसलेखसे निश्चयसे घनश्याम जी ने अपने सत्यवादी होने का होने परिचय दिया हुआ प्रतीत होता है । आश्चर्य है ! क्या लाखों आर्य समाजियों में आपको एक भी साक्षर न मिला ?

२ किञ्च ' शरीर बुद्धि शौर्य स्फूर्त्यादि " इसमें बुद्धि तथा शरीर इनपदों को आप फरमाते हैं कि ये व्यर्थ हैं । इससे भी आपकी बुद्धि का वैभव ही मालूम पड़ता है ? और ' ओजः ' इसका अर्थ वल

'ओज' इत्यस्य सत्यविद्यावलपरत्वेन ते किं परिहास्यते? ओजः कान्तिबलानां प्रायशःसमानार्थकत्वेनैवाभ्यूपगमान्नात्रकिञ्चिदसामञ्जस्यम्। अन्यथा गीतायां ( अ. १६ श्लो० ३, तेजः प्रागल्भ्यं ननु त्वग्गता दीप्तिरित्यादिशाङ्करमपि व्याकुप्येत? यच्च त्वया, किमस्ति कश्चित्तादृशः संस्कृतज्ञो विद्वान् यःस्वामिकृतभाष्यस्य स्वारसिकत्वमुपपादयेत्? तद्वयं सहर्षं सावष्टम्भं मुहुर्मुहुराक्ष्वेड्य समुद्घोपयामो महर्षेर्भाष्यस्य स्वारसिकत्वं, गरीयस्त्वं ज्यायस्त्वञ्च। वयं खलु के जगतीतलप्रसिद्धा श्रीमदरविन्दप्रमुखा धुरन्धरविद्वांसोऽपि तथैव समाख्यापयन्तिः-विद्वद्धन्यःश्रीमदरविन्दमहोदयःस्वीये निबन्धे स्वीकरोति श्रीमद्दयानन्दर्षेरितरवेदभाष्यकृद्भ्योज्यायस्त्वंः-

"In the matter of Vedic interpretation I am convinced that whatever may be the final complete

---

किया? तो इसके उत्तरमें हमारा यही कथन है कि तेज—ओज, कान्ति अथवा बल ये सब समानार्थक ही शब्द हैं। यदि यह कहो नहीं ओजका अर्थ कान्ति अथवा दीप्ति ही है तो ठीक नहीं प्रकरणानुसार बुद्धिगत कान्ति, शरीर, शक्तिगत कान्ति सभीका ग्रहण हो सकता है। केवल त्वक् गत कान्तिका ही नहीं। अन्यथा यदि आपका ही कहना माना जावे तो भगवद्गीता के सोलवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भाष्य शङ्कराचार्यजीका यह लेख "कि तेज प्रगलभता का नाम है नकि चमड़ेकी दीप्ति को" कैसे सङ्गत होगा महात्मन्। ज़रा साहित्य का अवलोकन करो? आगे आप फ़रमाते है क्या कोई ऐसा विद्वान् है जो स्वामी जी के वेदभाष्यकी स्वारसिकता ( सङ्गत होने ) का प्रतिपादन करे? अरे भाई आंख खोल के देखो तो पता लगजाय कि स्वामीजी के भाष्यने दुनियां को आंखें खोलदी! एक नहीं अनेकों विद्वानोंने स्वामी के भाष्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और धुरन्धर विद्वानोंने। आप जैसे एरे ग़ैरे पंचकल्याणियों ने नहीं। जिनमें से हम

interpretation, Dayanand will be honoured as the *first discoverer* of the right clues. (Aravind Ghosh.)

'थियासोफिस्टा' ख्य पत्रे श्रीस्वामिनां संस्कृतवैदुष्य विषये यदुल्लिखितं तदपि दर्शनार्हम्। 'समस्ते भारते वर्षे महर्षिदयानन्द-सदृशः कोप्यार्यभाषायाः संस्कृतभाषायाश्च प्रगल्भोवक्तानासीदि-तिनिर्विशङ्कम्।

"Certainly there was no better or grander orator in Hindi or Sanskrit than Dayanand throughout the breadth and length of this land." (Theosophist 1883).

मोक्षमूलर महोदयःस्वयं, 'ऋग्वेदादिभूमिकां प्रशंसन् समुल्लि-खति 'ऋग्वेदादारभ्य महर्षिदयानन्दप्रणीत' 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' पर्यन्तं निखिलमपि संस्कृतसाहित्यं द्वेधाविभागमर्हति। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिकाख्य प्रबन्धोऽतितरां मनोरञ्जक इत्यादिकम्"

"We may divide the whole of Sanskri literature beginning with the Rig Veda and ending with

---

विद्वानों के सन्तोष के दो एक सम्मति यहां पर उद्धृत किये देते हैं। विद्द्वन्य अरविन्द महोदय लिखते हैं " वेदों के भाष्य के विषयमें हमारा विश्वास है ! चाहे पूर्ण निश्चित भाष्य कोई भी क्यों नहों किन्तु वेदभाष्यकी सच्ची कुञ्जी के आविष्कारकों में ऋषिदयानन्द का नाम अग्रगण्य रहेगा और सबसे उत्कृष्ट सम्मान का अधिकारी होगा। (अरविन्द) थियो फिसस्ट नामकपत्रमें स्वामी के संस्कृत की अलौकिक विद्वत्ता के विषय में लिखा गया है कि समस्त भारत वर्ष में, संस्कृत तथा हिन्दी ऋषि दयानन्द के समकक्ष कोई भी विद्वान् प्रगल्भ वक्ता नहीं हैं"! स्वयं मेक्समूलर जोकि योरोपके संस्कृत विद्वानों में एक लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति था स्वामी जी महाराजकी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की प्रशंसा करता हुआ लिखता है कि 'ऋग्वेदसे लेकर—ऋषिदयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (जो कि एक अति मनोरञ्जक ग्रन्थ है) तक संस्कृत साहित्य दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है" जिस पुस्तक की हमारे

Dayananda's Introduction to his edition of Rig Veda, his by no means uninteresting Rig Ved Bhumika in two great Periods". [India what can it teach us]"

एवमत्रत्या वैदेशिकाश्च वहवोऽपि प्रेक्षावन्तो महर्षेर्विशुद्ध वैदुष्यं मुक्तकण्ठतः प्रशंसन्ति वर्णयन्ति च तेषामलौकिकप्रतिभामभ्युपयन्ति च तदीय जगद्गुरुत्वम्। परं न जाने घनश्यामेन कथङ्कारमिवेदं साहसिक्यमाचरितम्। क्व खलु मानसराजहंसः? क्च पुन वराकः काकः। क्व विद्वत्कुलावतंसः परमहंसो महर्षिः क्व चोद्दण्डमण्डलललामो घनश्यामः? अथवाऽद्यत्वे किमुनाम न सम्भाव्यम्? स्मर्यतेऽस्माभिस्त्विदमेवः—

"लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पन्नराणां पुरो।
विद्यासद्मभिर्निगलत्कणमुषो वल्गान्तिचेत्पामराः॥
अद्यश्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां वृकाः।
सिंहानाञ्च सुखेन मूर्धसु पदं धास्यन्ति शालावृकाः॥

---

घनश्यामजी समालोचना कर रहे हैं उसके विषय में विद्वान लिखते हैं "by no means uninteresting Rigvedadi Bhumika" अर्थात् अतीव मनोरञ्जक। प्रियबन्धु ओ! इस प्रकार अनेक भारतीय तथा इतर देश निवासी सभी विद्वान् स्वामीजी के पाण्डित्य की मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहे हैं उनकी अलौकिक शक्ति तथा चमत्कारक चातुरीका सभी अनुभव कर रहे हैं। किन्तु घनश्यामजीकी हालत विलक्षण ही है। यदि एसे पामर पण्डित भी स्वामी जैसे धुरन्धर धर्म्मा चार्यों पर आक्षेप करने लगे क्यों तो होना सम्भव नहीं? घनश्यामजी कृतिको देखकर तो हमें यही किसी कविका वचन स्मरण आता है कि अब तो फणिराजों के सिरों चिड़ियों के बच्चे, गजराजों के मस्तक पर भेडिये और सिंहों के मूर्द्धा पर शृगाल पग रखकर चलेगें। अन्यथा कहां घनश्याम और कहां महर्षि! कहां विद्वत्कुलावतंस परमहंस स्वामी दयानन्द और कहां श्रीयुत लोटा पांडे!

# ( प्रामाण्याप्रमाण्यविषयः )

१ अथेदानीं ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यसमालोचना प्रत्यालोच्यते तत्र यत्सत्यधर्मप्रियाचरणेति मुद्रणप्रमादवशाद्विपर्यस्तं पदमादाय समुट्टङ्कितं तत्तु बालिशत्वमेव केवलं विशदयति वस्तुतः सत्यधर्मप्रियाचरणैरिति पदमस्तीति मातृमुखोऽप्यनुमातुं शक्नोति। यच्च सत्यधर्मप्रियाचरणैरित्यस्य समासेऽपि दोषस्तदवस्थ एव। नहि धर्मस्य कस्यचित्सत्यत्वाभाववत्वं श्रुतं क्वचित्केनचिदिति तदप्यस्य मौढ्यमेव द्रढयति सत्यशब्दस्यात्र विशेषाधायकत्वद्योतनार्थमेव प्रयुक्तत्वात्। अन्यथा सत्यधर्मायदृष्टये' इत्याद्यनेकशः श्रुतयो व्याकुप्येरन्। किञ्चात्र दोषस्तदवस्थएवेति पदमस्य प्रयोग बोधदारिद्यमेव द्योतयति तदवस्थपदस्य यत्र निर्देशः तस्य स्वमु-

---

## " अथ प्रमाण्याप्रामाण्य विषय "

१ 'सत्य विद्याप्रियाचरण' यहांपर मुद्रणादि दोष से 'आचरण' की जगह अरचण ऐसा हो गया कि जिसके उपर घनश्यामजीकी लेखनीकी तेज़रफ्तारी और बलन्द परवाजीका कुछ ठीकही न रहा। परन्तु आप यह न विचारसके कि ऐसी क्षुद्र बातों पर लेखनी उठातेहुए मुझे विद्वान् लोग क्या कहेंगे। फिर आपका कथन यह है सत्य के साथ धर्म्म का समास कैसे। क्या धर्म को भी किसीने असत्य होता हुआ देखा या सुना है अर्थात् धर्म्म तो सत्य होता ही है फिर उसके लिये सत्यका विशेषण देना व्यर्थ है। वाह वाह क्याही अक्लमन्दी का प्रश्न है। सर्व साधारणभी इस बातको जानते हैं कि विशेषण कुछ न कुछ अवश्य विशेषताके प्रतिपादक हुआ करते हैं किन्तु घनश्यामजीके ये बातें समझमेंही नहीं। यदि थोड़े दरे के घनश्यामजीका ही कथन मानलें कि धर्म का सत्यको विशेष करना सर्वथा अनुचित हैं तो 'सत्यधर्म्माय दृष्टये' इत्यादि अनेक श्रुतियों की क्या दशा होगी। उनमें साफ़ सत्य धर्म्म लिखाहुआ। महात्मन्!

खेन पूर्वमेव निराकृतत्वात् तस्य तादवस्थ्यं कुतः ?-अतः केवलमिदन्ते प्रयोगानभिज्ञत्वमेव ।

२ अथ य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतः प्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति-इत्यत्र दोषोद्घाटनमस्याकिञ्चित्करत्वात् त्याज्यमेवेति ।

३ किञ्च ये प्रमाणभूता मन्त्रभागाः संहिताख्याश्चत्वारो वेदा, श्चेति समुद्दिश्य 'वस्तुतस्तु अस्तिदयानन्दस्याप्यभिमतोमन्त्राति-रिक्तोवेदभागः । यद्बुबोधयिपुरत्रभागपदं पपाठे' त्यपि न युक्तं मन्त्रभागेति नाम्ना प्रसिद्धाः संहिताख्यावेदा इतिहृदयेनैव तदुल्लेखात् । अन्यथा संज्ञाप्रकरणप्रपञ्चितं निखिलतत्वं वदतो व्याघातेन व्याकुलीभवेत् ।

४ सुश्रुतइति प्रयोक्तव्ये शुश्रतइति प्रयोगस्तु मुद्रणदोषदुष्ट एव ।

---

न जाने किस झोंकमें आप ऐसा लिख गये हैं? जरा विद्वान् ही इस बात पर विचार करें ।

२ किञ्च "वह दोष वैसाही रहा" यह प्रयोगभी आपके पदप्रयोग दारिद्र्यकाही अवबोध कराता है । कारण जिस दोष की आप तदवस्थता बता रहे हैं वह स्वयंही आपने निराकृत कर दिया फिर तदवस्थता कैसी? और 'जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ हैं उन्हीं को स्वतः प्रमाण करसकते हैं इसमें जो दोष दिखाये है वे अकञ्चित्कर होनेसे त्याज्यही है ।

४ और स्वामीजीके निम्न लेखपर 'जो प्रमाणभूत मन्त्र भागसंहिता संज्ञक चार वेद हैं' आपका कथन कि यहां तो दयानन्दनेमन्त्रभागकी संहिता मानकर उससे अतिरिक्तभी कोई वेद है इस बातको स्वीकार ही कर लिया है । सर्वथा बालको जेसा है । लोक प्रसिद्ध मन्त्र भाग संहिता ही प्रमाण-भूत वेद हैं यह स्वामीजीका अभिप्राय है । ये सभी विचारशील पुरुष समझते हैं । किन्तु घनश्यामजीको आक्षेप करने से काम? यदि स्वामीजीको धनश्यामजीका कथन ही अभिमत होता तो संज्ञा प्रकरणमें इस बात का खण्ड करके वदतो व्याघात दोषसे ग्रसित क्यों होते?

५ किञ्च 'श्रवणमननानुमानिकज्ञानतयेत्येव' वास्तविकं वाक्यम्। आनुमानिकमित्यत्रानु स्वारस्तु संशोधनप्रमादजन्यएव। यच्च नानुमानिकं ज्ञानं श्रवणेन भवितुं शक्यं नापि सर्वपदार्थानां ज्ञानतया निश्चयोभवितुं शक्यस्तत्वे भ्रमत्वापत्तेरिति ' तदपि प्रामादिकम्। शब्दादिना श्रवणद्वारैवानुमानिकज्ञानस्य सर्वानुभविकत्वात्। 'सर्वपदार्थानामानुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति' एतस्य तादृशनिश्चयएव तात्पर्याच्च। तदत्र घनश्याम एव विजयाजितः प्रतिभाति। सर्वसंग्रहादि चिन्तामण्यावधि नव्यानार्षग्रन्थानां निषेधस्य केवलं आर्षग्रन्थप्रामाण्ये तात्पर्यात्-इति न किमप्ययुक्तम्। वस्तु तस्तु नव्यानार्ष ग्रन्थाध्ययनाध्यापनेन वृथा यथा कालयापनं न स्यादित्येतदर्थमेव महर्षिणा निषेधो व्यधायि। यतस्तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्या ह्यसत्यार्थापस्याऽविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानविलोपो न प्रसज्येत।

---

५ और ' श्रवण मननानुमानिक ज्ञानमिति ' यही वास्तविक वाक्य है 'आनुमानिक' यहांपर अनुस्वार तो संशोधन प्रमाणजन्य ही है।

और आप यह कथनभी कि आनुमानिक ज्ञान श्रवण से नहीं हो सकता और नाहीं सब पदार्थों का ज्ञान ही हो सकता यह प्रमाद जन्य है। शब्दादिसे श्रवणद्वाराही अनुमान ज्ञान का सम्भव होनेसे और 'सब पदार्थों का आनुमानिक ज्ञानसे निश्चय होता है' इस का उक्तार्थ में ही तात्पर्य होनेसे। ऐसा होनेपर जरा विद्वान् विचारें तो सही कि घनश्यामजी विजयामेंजीते गये हैं या स्वामीजी?

और सर्व संग्रहसे लेकर चिन्तामणि पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रन्थोंका आर्ष ग्रन्थोंमें ही प्रयोजन है। और नव्य अनार्ष ग्रन्थोंका निषेध करते हैं। इस लिये स्वामीके कथनमें कुछ भी दोष नहीं आता। वास्तवमें ऋषिने इसी लिये निषेध किया है कि अनार्ष ग्रन्थोंके अध्ययनमें वृथा काळयापन नहो। क्योंकि जितना अनार्ष ग्रन्थोंका प्रचार अधिक

६ अथापि ब्रह्मवैवर्त्तादिपुराणप्रतिपादितकथानां मिथ्यात्वं प्रतिपाद्य तासामलङ्कारभिप्रायत्वं साधयतो महर्षेः यदि सा कथालङ्काराभिप्राया एवभवेत्तर्हि किमुत्तरमितिप्रश्नोऽपि निरवकाशएव यत्रतत्रपुराणादिग्रन्थेषु तत्तद्घटनारूपेणैवोपादानात् अतथात्वे नकश्चिद्दोषः ।

परं नालंकाराभिप्रायत्वं तासामद्यप्रभृति क्वचिदुपलब्धम् तस्माद् विषसम्पृक्तान्नवदुपेक्ष्यपक्ष एव निक्षेप्तव्याः प्रेक्षावद्भिरितिसर्वमक्षतम् ॥

'यच्च' ऐतरेय ब्राह्मणगतोपन्यासोऽयुक्तः । पुराणगता एव कथास्तच्छब्दैरेवोद्धृत्यालंकाराभिप्रायत्वेन प्रदर्शनीयाः । तदैव भवत्कृतोपक्रमोपसंहारादि संगतमिव स्यात्तदपि त्वद्बाल्याख्याति-

---

होगा उतनाही वेदादि सत्य शास्त्रोंके प्रचारमें हानि होगी जिससे अविद्यान्धकारकी ज्यादा ही प्रवृत्ति बढ़ेगी । और यथार्थ ज्ञानका विलोप होगा । जोकि स्वामीजीको कदापि इष्ट नहीं था ।

१ 'ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराणोंकी कथाएं मिथ्या हैं' ऐसा कहकर फिर उनको अलङ्कारिक बताना भी कहांतक उपयुक्त है ? क्यों कि जिन कथाओंको आपने मिथ्या ठहराया है यदि वे भी अलङ्कारिक हो तो इसमें आपका क्या उत्तर हैं यह प्रश्न भी आपका सर्वथा निरवकाश ही है क्यों कि पुराणमें जो कथाए आती है वे सब घटनारूपसे ही आती है । इतनेपर भी यदि कोई अलङ्कारिक सिद्ध हो तो विशेष दोष नहीं । परन्तु आजतक तो किसीने उनको आलङ्कारिक बनाया नहीं । यदि कहीं हो तोभी वे विषसम्पृक्तान्नवत् ही त्याज्य है ।

२ ऐतरेय ब्राह्मणगत यह कहना ठीक नहीं पुराणगत कथाएं ही उन्हींके शब्दोंमें उल्लेख कर दिखानी चाहिये । तभी ऋषिका किया हुआ उपक्रम तथा उपसंहार ठीक होगा । इत्यादि कथनभी घनश्यामजीके बालिशत्व कोही द्योतन कराता है । कारण उन कथाओं के मूलको

रिच्यते ' तादृशकथामौलिकत्वप्रदर्शनधिया ब्राह्मणगतकथोपन्यासस्यैव यौक्तित्वात् ।

२ किञ्च प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभिध्यायेत्यादि भाष्यमुद्धृत्य यदुदाजहार तदपि निर्युक्तिकत्वादश्रद्धेयः । कुत उच्यते सविता सूर्यःसूर्यलोको वा सूर्य्यएव लोकः सूर्यलोक इति सुस्पष्टमेव । तत्र तदधिष्ठातृदेवताद्यप्रासङ्गिकप्रधावनं किंफलकं । अत्र तु प्रजापतिः सूर्यस्तस्य दुहिता कन्यारूपा द्यौरुपा यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्—यस्माच्चोत्पद्यते स पितृवदिति तु सर्वजनीनः प्रवादः जन्यजनकभावोऽपि न ततो लवतो व्यतिरिच्येत । इति सुतरां रूपकालङ्कारोक्तिरेवात्र सङ्गच्छते ।

३ नच शक्यार्थसम्भवे लक्ष्यार्थस्यान्याय्यतया दुहितृपदस्य कन्यावदित्यर्थोऽयुक्त इति वाच्यम् शक्यार्थासंभवे सत्येव तथोपन्यासात् । अन्यथा गृहएव समुपलब्धे मधुनि, कोनाम पर्वतं व्रजेत् ।

---

दिखानेके लिये ही ब्राह्मणगत पद का उपन्यास किया गया जो सर्वथा यौक्तिक है ।

३ किञ्च ' प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरं ' इत्यादि मन्त्रके भाष्य का उद्धरण करके जो कहा है वहभी अयौक्तिक होनेसे अश्रद्धेय है क्योंकि सविता कहते हैं सूर्य को या सूर्यलोक को अथवा सूर्य ही लोक के सदृश इति सूर्यलोक ऐसा करने पर कोई भी दोष नहीं आता । इसलिये उसका अधिष्ठातृ देवता है यह हैं वह है इत्यादि व्यर्थ अप्रासङ्गिक प्रधावनसे क्या मतलब ? यहां स्पष्ट बताया है कि प्रजापतिनाम है सूर्यका उसकी कन्यारूप दुहिता द्यौ उषा है क्योंकि जिससे पैदा होता है वह पिता और जो उत्पन्न होता वह पुत्रवत् होता ही है इस व्यवहार को सभी जानते है इससे यहां रूपकालङ्कार स्पष्ट ही है ।

४ और आपका यह कथन भी कि शक्यार्थके सम्भव रहते लक्ष्यार्थ की कल्पना अन्याय्य होनेसे ' दुहिता ' पदका पुत्रीवत् यह अर्थ करना

४ यच्चात्रोपमैव भवितुमर्हति ननु रूपकम् । तदपि तस्यालङ्कारशास्त्रानभिज्ञत्वमेव पुष्णाति । तत्रोपमेय उपमानतादात्म्यारोपस्यैव रूपकत्वाभ्युपगमात् । तत्सद्भावश्च निरुक्तस्थले न कथमपि शक्यमपह्नोतुम् । अन्यथा रूपकोपमयोरभेदव्याकोपः समुज्जृम्भेत । तस्मादत्र रूपकमेव न कर्हिचिदुपमेति सर्वं चतुरस्रम् । एतावतैवान्येऽपि तत्सहोदराः कुतर्का अपि समाधेया । विशेषतो जिज्ञासुभिश्च ते तेऽलङ्कारसन्दर्भास्तत्तत्सारगर्भा एवानुसन्धेया ।

५ किञ्च प्रजापतिः स्वां दुहितरमित्यादिसन्दर्भजातं पुरस्कृत्य महर्षिप्रतिपादितार्थस्य निरुक्तार्थवैरुध्यमश्लीलत्वञ्च प्रतिपादितम् तदप्यकिञ्चित्करम् तत्राऽश्लीलताया लेशस्याप्यसद्भावात् ।

---

सर्वथा अयुक्त है ठीक नहीं । शक्यार्थ के असम्भव होनेपर वैसा किया है । यदि शक्यार्थ सम्भव होता तो फिर लक्ष्यार्थ करने की आवश्यकता ही क्या थी ? ' गेहेचेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ' अर्थात् घरमें बैठे हुए यदि मधुकी प्राप्ति होतो पर्वत पर चढने का क्लेश कौन सहे ?

" ४ इनका यह कथनभी कि यहां पर उपमाही होसकती है स्वामीजीने जो रूपक बताया है वह सवथा अयौक्तिक है " घनश्यामजीकी अलङ्कार शास्त्रसे अनभिज्ञताका ही द्योतन कराता है । क्यों कि उपमेय में उपमानकी तादात्म्यारोपको रूपक कहते हैं जो यहां सर्व घटित होता है अन्यथा रूपक व उपमा में भेदही क्या रह जायगा ? दोनो एकही हो जायगे । इसीसे अन्य भी इसके सदृश आक्षेपोंका समाधान समझना चाहिये । और विशेष जिज्ञासुओं को स्वयं अलङ्कारादि पुस्तकों का ही अनुसन्धान करना चाहिये । ग्रन्थविस्तारभयसे यहां नहीं लिखा जा सकता है ।

" प्रजापतिःस्वां दुहितरं " इत्यादिमन्त्रपर स्वामी जी के अर्थको असङ्गत तथा निरुक्तार्थ विरुद्ध एवं अश्लील बनाया है सो भी नितान्त

अन्यथा पाणिग्रहणादिप्रकरण...... सर्वेऽपि मन्त्रा व्याकुलीभवेयुः । निरुक्तप्रतिपादितार्थस्य वैरुद्ध्यं न जाने कुतोऽवलोकितम् । यास्कीयमर्थं प्रतिपादयामास तमेवार्थं किञ्चिद् विशदय्य महर्षिरनुमोदयामास । एवंविधया समस्तास्ते ते आक्षेपा अपि निराकृताः । नच निराकृतेषु तेषु दोषेषु कथन्न पुराणादिग्रन्थानामुपादेयत्वं किन्न स्यादिति वाच्यम् । तादृशगाथानामार्षग्रन्थगतानां मौलिकत्वेन व्याख्यानतया तदितरग्रन्थगतासंगत विप्रतिपन्नगाथानां बाहुल्येन च विषसंपृक्तान्नवद्धेयपक्षएव प्रक्षेप्तव्यत्वात् । एतेनैव गौतमाहिल्यादि मौलिककथा अपि व्याख्याता वेदितव्याः । नचाहिल्या रात्रिरुच्यते गौतमश्च चन्द्रस्तयोःस्त्रीपुरुषवत्सम्बन्धोऽस्ति । इन्द्रः सूर्यश्च चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते । यतोऽयं रात्रेर्जारयिता सूर्योदये हि रात्रिर्नश्यति ।

---

अकिञ्चित्कर है । कारण कि स्वामीजी के अर्थ में अश्लीलताको नामो निशान भी नहीं है । यदि स्वामीजी का वर्णित अर्थही अश्लील ठहराते-हो तो विवाहप्रकरणस्थ सभी मन्त्र जो गार्हस्थ्य धर्म का प्रतिपादन करते है व्यर्थ एवं अश्लील हो जायंगे ? भाई यह तो विज्ञान है अश्लीलता नहीं। ज़रा अश्लीलता का मतलब तो समझा होता है । तभी वैसे लिखते ? और स्वामीजी के निरुक्तके अर्थ सेभी विरोध नहीं आता । जिस अर्थका यास्क मुनिने प्रतिपादन किया है उसीका ऋषिने अनुमोदन मात्र कर दिया । आपको विरोध कैसे मालूम हुआ ? इसी से गोतम अहिल्या आदि की कथा का भी समाधान समझ लेना चाहिये । और यदि कहो कि ' अहिल्या रात्रिको कहते है और गौतम चन्द्र को इन दोनों का स्त्री पुरुषका सम्बन्ध है । और इन्द्र सूर्य चन्द्रमाकी स्त्रीका जारण करनेवाला है जब रात्रिका जारण करनेवाला सूर्य उदय होता तब रात्रि का नाश होजाता है । यही उसके साथ सूर्य का जारकर्म है । यही आशय उस पुराण गत कथा का भी है इसलिये उस कथा के प्रयोक्तापर दयानन्दका

इदमेव च तया सह सूर्यस्य जारकर्म इति। ईदृशाशयस्तादृशकथायाः पुराणप्रतिपादितायाः अपि वर्तते। अतस्तत्कथाप्रयोक्तारं प्रति भवता-माक्षेपो निष्प्रयोजन एवेति वाच्यम्। एतदाशयेन तादृशप्रपञ्चस्या-सत्वात् कथाया रूपान्तरत्वाच्च यच्चोक्तं समाधानं, इत्थं जारकर्म-कृत्वा यदोदेति सूर्यस्तदा क्रमश एधमानः सहस्रभागतां भजते सर्वथापि स्तब्धोभवति न किञ्चित्कर्म तत्र विधीयते। दिवस एव कर्मणां सम्पन्नत्वात्। यदा तु रामपादरजः स्पर्शो भवति रात्र्या-स्त्रियासह रमते इति रामश्चन्द्रः तत्किरणस्पर्शेन पुनरपि मोद-मानास्तिष्ठति तदानीं जरयितुः सूर्यस्यासत्वादिति तदप्यस्यावबोध-वैकल्यमेव द्योतयति कीदृशीयं विलक्षणव्याख्यानसरणिरस्य पण्डितप्रकाण्डस्य। रात्रिश्च पाषाणशिलेव निश्चेष्टा कुतः दिवस एव कर्मणां सम्पन्नत्वात्। चन्द्रकिरणस्पर्शेन निस्तब्धायारात्र्याः शिला-सदृशाया वर्षसहस्रेणापि त्वया कर्मणां सम्पादकत्वं सचेष्टत्वं वा

---

आक्षेप व्यर्थ ही है" तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उस प्रपञ्चका यह आशय ही नहीं है और उस कथा का भी रूपान्तर है। आपने जो समा-धान करते हुए जो सङ्गति लगानेका प्रयत्न है वह भी ठीक नहीं 'आपका कथन है' कि जारकर्म करके सूर्य उदय होता है तब क्रमसे बढ़ता हुआ सहस्रों भागों को प्राप्त होजाता है। सर्वथा स्तब्ध होता है कुछ भी कर्म वहीं नहीं किया जाता क्योंकि दिनमें कार्य होते है। जब राम पद रजका स्पर्श होता है। राम कहते हैं चन्द्रमाको। उसके किर-णके स्पर्शसे सृष्टि फिर मोदमान होजाती है। क्यों कि जर-यिता सूर्य तो है नहीं" इत्यादि भी आप के ज्ञान की विकलता का ही द्योतक है। जरा पण्डित प्रकाण्ड की इस व्याख्यानसरणि को तो देखिये। आप कहते हैं कि रात्रि तो पाषाण शिलाके समान निश्चेष्ट है। क्यों कि कर्म तो दिनमें होते हैं। यहां हम यह पूछते कि जब आप रात्रि को निश्चेष्ट शिला बता रहे है तो चन्द्रके निकलेनसे उसको निश्चेष्टता चली

साधयितुं न शक्यते-चेच्छक्यते तर्हि दिवस एव कर्मणां सम्पन्न-त्वादिति हेतुस्ते व्याहन्येत । हन्त कीदृशस्तेऽलौकिकोयं मति-विभ्रमः। अतो महर्षिणा सुस्पष्टमेव प्रतिपादितं या नवीनग्रन्थेषु मिथ्या कथास्ता न केनचित्कदाचिदपि मन्तव्या इति ।

१ किञ्च पराक्रमाण्यहं प्रावोचमित्यत्र क्लैव्यन्तु मुद्रणप्रमादज-न्यमेव पराक्रमानहमित्यस्य स्थाने तादृशप्रयोगस्यसुकरत्वात् ।

२ एतेनेन्द्रवृत्रासुरादिकथापि तद्विधा एवेति धेयम् । यच्च प्रतिमाशब्दस्य स्वग्रन्थ विरोधं हेतुमुपन्यस्य प्रतिनिधिप्रतिकृति प्रतिमानाद्यर्थसंगतित्वं प्रणिजगाद तदपि नूनं व्यामोहविलसितम् लवतोप्यत्र ग्रन्थे तादृशविरोधस्यानुपलम्भात् । नूनं नामशेषं गता ते शेमुषीति प्रतीयते। पश्यत रे धीधना विद्वज्जनाः क्वास्त्यत्र विरोधः। इदमत्रबोध्यम् । तस्योक्तविधस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमानं तोलनसाधनं परिमाणं मूर्त्यादि

---

जायगी कर्मसम्पन्नता आ जायगी ? ज़रा कुछ सोच समझ करही लिखा होता ? यदि रात्रिमें भी कर्मसम्पन्नता हो जायगी 'दिवस एव कर्म्मणां सम्पन्नत्वात्' अर्थात् दिनमें ही कर्मों की सम्पन्नता है इसे अपने कथन का आपने स्वयं खण्डन क्यों किया ? इस प्रकार आपकी व्याख्या कदापि ठीक नहीं होसकती । और स्वामीजी का ही कथन कि अनार्ष ग्रन्थों को त्याज्यही—समझना चाहिये सर्वथा ठीक है ।

१ किञ्च 'पराक्रमाण्य हं' यहां नपुंसकलिङ्ग मुद्रणादि दोष वशसे ही हुआ है। 'न' के स्थानमें 'ण्य' हो जाना सर्वथा सम्भव है । इसीसे इन्द्र वृत्रादि की कथाभी वैसीही मिथ्या समझनी चाहियें ।

और जो प्रतिमा शब्दको । अपने ग्रन्थसे विरोध आयेगा. ऐसे हेतुको दिया है और प्रतिनिधि, प्रकृति प्रतिमानादि ये जो प्रतिमाके अर्थ बताये हैं सो ठीक नहीं। क्यों कि यहां विरोध का तो नाम निशानभी नहीं है । मालूम होता है घनश्यामजी बुद्धि नामशेष ही रहगयी है। यहां विरोध

कल्पनमस्ति। इत्यादिग्रन्थेन प्रतिमापदं व्याख्याय परमेश्वरस्य मूर्त्यादि कल्पनं प्रतिषिद्धम्। अपरत्र च वेदेषु प्रतिमाशब्दोस्ति नवेति प्रश्नस्योत्तरं दित्सुर्लभ्यते प्रतिमाशब्दः किन्तु समूर्तिपरोनोत्युत्तरयाम्बभूव तदुभयत्रापि तुल्यार्थमेव प्रतिपादयतो महर्षेः ग्रन्थे विरोधावधारणन्तु केवलं विभ्रमासाधारणकारणकमेव।

१-प्रमाणाभावाच्चेत्यपरो हेतुस्तु न तस्य प्रतिमास्तीत्याद्यनेक प्रमाणोपलम्भादेव सुतरां निरस्तः।

२-यच्चार्चनत्वादेव सामाजिकाः मूर्तिपूजनं नाङ्गीकुर्वन्ति यतस्त चेतनोपासनमेव व्यक्तम्मन्यन्ते एवं सति सम्वत्सरस्य प्रतिमेत्यादिमन्त्रे दयानन्देन सम्वत्सरस्य प्रतिमेवोपास्यत्वेनोपपादयन् किमर्थं न स्यात् पुनः प्रतिमापूजनपोषकः इति यत्तदपि न चारु

---

कैसे आया यह विद्वान् लोगभी विचारें। वस्तवमें यहां तो इस बातका वर्णन है कि अमुक उक्त प्रकारके परमेश्वर की प्रतिमा प्रतिनिधि प्रतिकृति अथवा प्रतिमान तोलन साधन मूर्त्यादि की कल्पना इत्यादि ग्रन्थसे परमेश्वर की मूर्त्ति आदिकी कल्पनाका प्रतिषेध किया है यहां वेदोंमें प्रतिमा शब्द है या नहीं इस प्रश्नके उत्तरमें प्रतिमा है किन्तु वह मूर्त्ति परक नहीं है ऐसा स्वयं उत्तरभी दिया है। तो जबकि स्वामीजीने उभयत्र एक साही अर्थ किया है फिर न जाने घनश्यामजीने विरोध कैसे पाया?। और घनश्यामजीका प्रमाणके अभावसे यह दूसरा हेतुभी स्वयं निरस्त होगया समझना चाहिये कारण कि स्वामीने " न तस्य प्रतिमास्तीति " इत्यादि अनेक प्रमाण दिखाये हैं।

२ आर्य सामाजिक लोग अर्चनासे ही मूर्तिपूजा को नहीं स्वीकार करते हैं कारण कि वे चेतन पूजाकोही स्पष्टरीतिसे मानते हैं। परन्तु 'संवत्सरस्य प्रतिमा' अर्थात् संवत्सरकी प्रतिमा है इत्यादि मन्त्रमें दयानन्दने संवतसर की प्रतिमा कोही उपासनाके योग्य बतायाहै इससे मालूम हुआ कि स्वामीजी अवश्यही मूर्त्ति पूजाके पोषक थे।

तादृशप्रयोगस्यैतत्तात्पर्यानुपलम्भात् । नह्यत्रोपास्महे इति प्रयोगोऽत्रोपासनापरः किन्तूचितोपयोगपरः उपास्महे उपयुञ्जामहे वर्त्तामहइति यावत्-इति सर्वमक्षतम्। तस्माद्दयानन्दः स्पष्टमेव मूर्तिपूजनं प्रतिपादयामासेति सरोषो निर्घोषोप्यस्य सदोष एवेति दिक्

---

## अथाधिकारानधिकारविषयमण्डनम्

अस्मिन् महर्षिणा वेदादि शास्त्राध्ययने सर्वेषामेव मानवानामधिकारोऽस्तीति, वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्चेति हेतुत्रयमुपन्यस्यप्रतिपादितम् । तदेतत्खण्डयन्नाह यत्किन्नामेश्वरोक्तत्वम्, ईश्वरोच्चरितत्वं यदि तदा त्वत्पक्षे ईश्वरोच्चरितत्वस्यासम्भवएव उच्चारणं हि कण्ठताल्वादि

---

यह कथनभी घनश्यामजीका नितान्त भ्रममूलक है। कारण यहां 'उपास्महे' इसपदका कदापि उपसना का नहीं है किन्तु उसका सदुपयोग करनेके अभिप्रायसेही वैसे लिखा है। अन्यथा लोकमेंभी अप्रसिद्ध संवत्सरकी उपासना का विधान ऋषि क्यों करता ? यह तो जरा विचारना चाहिये ? इसलिये आपका यह दावा कि ऋषि दयानन्दने अवश्यही मूर्तिपूजाकी पुष्टि की है बिल्कुल असंङ्गत है !

---

### " अथाधिकारानधिकार विषय "

इस प्रकरणमें महर्षिनें सबका (मनुष्यमात्रकाही) वेद पढ़ने का अधिकार है, एसा प्रतिपादन किया है । कारण कि वेद ईश्वरोक्त हैं और सबके उपकार के लियेही रचे गये है। और सत्य विद्याके प्रकाशक हैं इन तीन हेतुओंको देकर बतलाया इसलिये किसी भी मनुष्यको वेदोंके ज्ञानसे वञ्चित न रहना चाहिये । इनका खण्डन करते हुए घनश्यामजी लिखते है कि ईश्वरोक्तत्व से यहां पर स्वामीजी का क्या मतलब है क्या

स्थानेषु सत्स्वेव सम्भवति नचेश्वरेऽशरीरित्वात्तत्संभव इतित-त्सर्वमप्रासङ्गिकमयुक्तश्च । वेदोत्पत्तिविषये विशदस्य तन्निरूपि-तत्वात् कण्ठताल्वाद्यभिघातमन्तरेणापि ग्रामस्फोरणादि वाद्यविशे-षेषु सुव्यक्ताक्षरोच्चारणस्यश्रूयमाणत्वाच्च ।

१ नच ग्रामस्फोरणादिवाद्येषु, अन्यदीय शब्दसद्भावात् तदतिरिक्तशब्दस्यचासत्वेन निर्दिष्टदोषस्तदवस्थाएवेतिवाच्यम् । कण्ठताल्वादिस्थानाभावेऽपि तत्तच्छब्दोच्चारणसम्भवत्वप्रदर्शनस्यैव तेन तात्पर्यात्। ग्रामस्फोरणादिवाद्येषु विनापि ताल्वाद्यभिघातं सुस्पष्टशब्दोच्चारणं सर्वेषामानुभविकम् भवतु नाम कस्याप्यन्यदी-यस्यैव तत्किन्तेन नःकर्तव्यम् । किन्त्वविद्यमानेष्वपि कण्ठताल्वा-दिस्थानेषु तत्तद्व्यक्ताक्षरोच्चारणन्तु सुस्थितमेव नच तत्कथमप्य-न्यथयितुं शक्यम् तस्मादीश्वरोक्तत्वादिति हेतुः सतर्क एव नतु स्वरूपासिद्धः–हेत्वभाव वत्पक्षस्यासद्भावात् हेत्वभाववान् पक्षो हि स्वरूपासिद्धोभवति नचासौ कथमप्यत्र संश्लिष्यते-एतेनैवाति-रिक्तहेतुद्वयनिरासोऽप्यस्योपहासजनक एवेत्यध्यवसेयम् ।

---

ईश्वरोच्चरितत्व ? यदि कहो हां तो ठीक नहीं क्योंकि कण्ठतालु आदिके अभाव होनेसे ईश्वरमें उच्चारण आदि व्यवहार घटही नहीं सकते क्योंकि ईश्वर को आप अशरीरी अर्थात् शरीररहित निराकार मानते हैं न ? इत्यादि कथनभी आपका सर्वथा असङ्गत है । कारण कण्ठतालु होनाही का उच्चारणके लिये होना आवश्यक नहीं विना कण्ठतालु आदिक होते भी ग्रामोफोन आदि में शब्दोंका स्पष्ट उच्चारण होना सबका अनुभव सिद्ध है । अतः आपका कथन ठीक नहीं । इसका वेदोत्पत्ति विषयमेंही सविस्तर वर्णन किया जाचुका है ।

और यदि यह कहो कि ग्रामोफोन में तो दूसरों के शब्द रहते है जिनके कण्ठताल्वादि होते हैं । इस लिये ग्रामोफोन का दृष्टान्त देना अयुक्त है । और हमारा दिया हुआ दोष वैसाही रहा" तो भी ठीक नहीं क्यों कि हमें तो केवल यहां यह सिद्ध करना है आया कण्ठ तालु आदिके विना भी

१–यच्च त्रैवर्णिकातिरिक्तस्य शूद्रादेश्चार्थित्वसत्वेऽपि सामर्थ्याभावान्नाधिकारः सामर्थ्यमपि लौकिकमात्रमधिकारवान्न भवति शास्त्रीयऽर्थेतु शास्त्रीयस्यैव सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वादिति यत्तदपि न विचारसहम् । अयौक्तिकत्वात् । सत्यपि सामर्थ्यार्थित्वेऽनधिकारो न युक्तियुक्तः. यस्य खलु यदर्थेऽर्थित्वं सामर्थ्यञ्चास्ति तस्य तस्मिन्नर्थेऽधिकारो न भवेदिति कियद्यावद्युज्येत किमेतन्न्याय्यमिति सुधीभिः स्वयमेव क्षणं ध्येयम् । शास्त्रीयेर्थे शास्त्रीयस्यैव सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वन्तु सर्वेषामविवादास्पदं किन्तु सामर्थ्ये सत्यपि तदभावप्रतिपादकानि किमु कदापि शास्त्रपदभाञ्जि भवितुमर्हन्तीति । शास्त्राणितु तान्येव यानि तात्विकार्थशासकानि भवन्ति तादृशः शूद्राणां वेदाध्ययनेऽनधिकारश्चेदुपलभ्यतेऽपि क्वचित्तर्हि स विद्वद्भिरयौक्तिकत्वात् हेयपक्ष एव निक्षेप्तव्यः । यतः शास्त्रसिद्धं लोकाविरुद्धञ्चैवार्थमङ्गीकुर्वन्ति यौक्तिकि न जातु तद्रिक्तामितिदृक् ।

---

शब्द उच्चारण होसकते हैं या नहीं ? सो ग्रामोफोनमें स्पष्ट रीतिसे विना कण्ठ तात्वादि के होते हुए शब्द उच्चारण होता ही है यह दूसरी बात है कि वे शब्द किसी के भीहों किन्तु इससे आप का यह कथन कि विना-कण्ठ तालुके अभिघात के शब्दोच्चारण हो ही नहीं सकते नितान्त अयुक्त हुआ न ? इस लिये स्वामी का ईश्वरोक्तत्वात् यह हेतु सद्धेतुही है स्वरूप सिद्ध नहीं । हेत्वभाववान् पक्ष ही स्वरूपासिद्ध है सो यहां घट सकता है । स्वरूपासिद्ध के लक्षण तो समझलिये होते तभी कुछ लिखते ! इसीसे अन्यदोनों हेतुओं का भी खण्डन हुआ समझना चाहिये । और जो वेदोंके पढ़ने का शूद्रमात्र को यदि उसमें शक्ति सामर्थ्य है तो पूर्ण अधिकार यह कथन भी स्वामीजी का ठीक नहीं कारण कि आपने लौकिक सामर्थ्य माना है । वेदादि शास्त्रों के शास्त्रीय सामर्थ्य की ही जरूरत है वहां लौकिक कुछ नहीं करसकता । इत्यादि कथन भी

१ यच्चोपनयनपूर्वकत्वा द्वेदाध्ययनस्योपनयनस्यच वर्णत्रयविषयत्वान्नशूद्राणांवेदाध्ययनाधिकारइति तदपिसाध्यकोट्यवगाहित्वादश्रद्धेयम् । न कथञ्चित्तद्धेतु त्वेनोपादातुंयुक्तम् । उपनयनस्यहि त्रैवर्णिकाविषयत्वन्तुसुतराम्-साध्यकोटिमवगाहते ॥ नचतत्कोटिमवगाहमानः कदाचित् नखलु स्वयमसिद्धःपरान् साधयितुमलं भवितुमर्हति दिव्यवर्षसहस्रेणापि तस्माच्छूद्राणांवेदाध्ययनानधिकारश्चाप्यस्य सर्वथानादरणीय एव ' अन्यथा ' रुचन्नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्क्राधि । रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचमित्यादि " वर्णचतुष्टयतुल्यार्थप्रतिपादयन्त्योऽनेकाः श्रुतयः प्रपीड्येरन् । रुक् शब्देनात्र कान्तिर्ज्ञानं दीप्तिर्विज्ञानं प्रकाशोवा गृह्यते नच स वेदाध्यायनादृते जातु सम्भवी तस्मात्सुव्यक्तमेवानेन ध्वन्यते यदस्ति शूद्रस्यापि वेदाध्ययने समानोऽधिकारइति ॥

---

घनश्यामजीका सर्वथा असङ्गत है । क्योंकि जिसमें वेदाध्ययनके लिये पूर्ण सामर्थ्य बुद्धि प्रतिभा आदि पर्य्याप्त है उसको अधिकार नदिया जाय यह कहांतक बुद्धि सङ्गत है इसको किञ्चित् आपही विचारें । शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय ही सामर्थ्य होना चाहिये यह बाततो सभीके अनुभवकी है किन्तु विचारणीय तो यह है कि जिसमें योग्यता है शक्यता हो उसको अनधिकारी ठहरानेवाले भी कभी शास्त्र कहे जासकते हैं ? कदापि नहीं ? संसारमें ' शास्त्र सिद्ध किन्तु लोक से अविरुद्ध अर्थ ही उपादेय है । इस लिये घनश्यामजीका पक्ष ठीक नहीं वेदोंके पढ़नेका मनुष्यमात्रको अधिकार है ॥

और आपका यह कथन कि " बिना उपनयनके वेदाध्ययन हो नहीं सकता और चूंकि उपनयन का अधिकार केवल त्रिवर्ण को ही है इसलिये तीन वर्णों ( ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य ) के अतिरिक्त अन्य वेद किस प्रकार पढ़ सकते हैं " नितान्त असङ्गत है । कारण आपका यह हेतु ' उपनयनस्य वर्णत्रय विषयत्वात् " अर्थात् उपनयनका अधिकार वर्णत्रयको ही है स्वयं साध्यकोटि में है । जबतक उसको आपने

२ किञ्च यथेमां वाचं कल्यागीमित्यादिमन्त्रे यद्यत्र स्वामिमतानुसारमीश्वर एव वक्ताभिप्रेयेत तदा अयं मे कामः समृध्यताम् इत्यनेनेश्वरस्यापि कामनावत्त्वंस्यादित्यादि कथनमप्यकिंचित्करम् । तादृशप्रयोगाणां भाक्तत्वात् भाक्ताहि इमेप्रयोगाः न तत्वदृशावधार्या । अन्यथा सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायायित्यादिष्वपि तादृशदोषस्य दुर्वारता समापद्येत। किञ्च चारणायेत्यत्र पदद्वयमवबुध्यमानोऽतिशूद्रायेत्यर्थं खण्डयामास तदपि विनिगमनाभावादनादरणीयम्। अरणशब्द एवात्र संभवति न पुनश्चारणइत्यत्रकिमस्ति

---

सिद्ध नहीं किया तब तक उक्त लेखका आपको अधिकार ही नहीं। क्यों कि वेदों मे चारोवर्णों के लिये स्पष्ट रीतिसे एकसी प्रार्थना पाई जाती हैं । 'रुचं नोधेहि ब्राह्मणेषु' अर्थात् हे प्रभो हमारे ब्राह्मणों में क्षत्रियों में वैश्यों में और शूद्रों में तेज कान्ति बलज्ञान विज्ञानआदि दीजिये । सबके लिये समानता से एकही शब्द 'रुक्' पढ़ा हुआ है । रुक् कहते हैं कान्ति, प्रतिभा बल प्रगल्भता आदि सद्गुणों को । फिर कोन कह सकता है कि शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं । अन्यथा उक्त मन्त्रों की सङ्गति कैसे बैठेगी ?

किञ्च "यथेमां वाचं कल्याणि" इत्यादि मन्त्रमें यदि स्वामीजी के मतानुसार ईश्वरको वक्ता मानभी लें तो 'अयं मे कामः समृध्यतां" अर्थात् मेरी कामना सिद्ध हो इससे निरीह ईश्वर भी कामना वाला हो जायगा। यह कथन भी आपका असङ्गत है। क्योंकि ऐसे प्रयोग गौण वृत्तिको लेकर किये जाते हैं । अन्यथा यदि ऐसे ही प्रयोगोंसे ईश्वर ही कामना वाला सिद्ध होनेलगे तो "सोऽकामयत बहुस्यां" इत्यादि सभी श्रुति स्मृतियोंसे विरोध आयगा। अतः आपका उक्त कथन ठीक नहीं। रहा यह कि स्वामीजीने 'चारणाय' य अशुद्ध पद लिया 'अरणाय' यह होना चाहिये था। यहभी निस्सार है। दोनों

विनिगमकम् । यथा चारणशब्देनातिशूद्रोगृह्यते तथैवारण शब्देनापि । तस्मापगतादकार्थकत्वात् । अपगतोदकस्तु अतिशूद्रएव भवितुमर्हति नतु शत्रुः अतिशूद्र एवापगतोदकत्वं युज्यते न तु रिपौ । अतोमहर्षिप्रतिपादितोऽर्थ एव सङ्गतः ।

१ अपिच प्रकृतन्तु अत्र शूद्रस्य वेदाध्ययनाधिकारः सच सुव्यक्तम् मन्त्रपठितेनैवशूद्रशब्देन सिद्धः । तदनाशङ्क्यान्यत्र धावनमेवास्य पक्षदौर्वल्यं द्योतयति । यच्च गुणकर्मानुसारिणी वर्णव्यवस्थां दूषयितुकामोघनश्यामआह तत्रतु मौनमेव श्रेयः निस्सत्वत्वात् ।

---

---

अवस्थामें अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं आता । चारण भी अति शूद्र अरण भी उसीको जिसकेसाथ जलादिका कोई सम्बन्ध नहो अर्थात् अतिशूद्र । अतः अर्थभेद न होनेके कारण दोनों पद समान ही है । इस हेतुसे महर्षि प्रतिपादित अर्थ बिल्कुल सङ्गत है । प्रकरण तो यहां यह था कि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार है या नहीं । सो उपसंहार में यही सिद्ध हुआ कि शूद्रको भी वेदाध्ययनाधिकार है । इसमें कुच्छ संशय नहीं । किन्तु आपने इस बात को छोड़ दिया और इस तरफ प्रकरण विरुद्ध टापना शुरु किया इससेभी आप के पक्ष की निर्बलताही सिद्ध होती है ।

२ गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्थाको लेकर जो कुछ कहा है वहभी निस्सार है उसका यहां उल्लेख केवल ग्रन्थविस्तार का ही कारण होगा । क्योंकि उसमें कुछभी तात्त्विक बात नहीं । आर्यसमाजका प्रत्येक बालकभी उसका समाधान कर सकता है ।

---

# अथ भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषय ॥

एतत्प्रकरणमवलम्ब्य घनश्यामाचार्यस्तु किमपि क्षुद्रमपि छिद्रमनन्विष्यन्नगत्या विदुषांस्वतन्त्रावलोचनमेवावलम्बेत तथाच प्रसंगवशाच्च केचनमन्त्रास्तत्रतत्रसमुद्धृताः तेषामर्थास्तु यथार्थं निरुक्तादिग्रन्थेषु जिज्ञासुभिरवलोकनीयाः । अत्रतु अनर्थप्रायमेवोक्तं तत्सर्वं ग्रन्थविस्तारभियानोपन्यस्यते । सुधीभिः स्वयमेवोह्यम् । नूनंधन्योऽसि यत्र कुतर्केण तावन्ति शतद्वयपरिमितानि पत्राणि श्यामिकयाविलेपितानि तत्राद्वित्रिपत्राधिकलेखनेनकिं परिहीयते ? वस्तुगत्यातु अगलिकेन भवतैव सर्वमुल्लिखितम् । स्वयमेव विद्वद्भिरालोचनीयमिति । विद्वद्भिस्तुस्वयमालोचिष्यत एवासीच्चेद् भवतां काचित् महर्षिप्रतिपादितभाष्यायाथार्थ्यसाधिक्यशक्तिस्तर्हि सा कथन्न विस्फोरिता विदुषांसमक्षे । हन्त ! घनश्यामस्स्वरूपं माविस्मर परिचिनुहि तत् किं नजाने किं विचिन्त्यायमेतादृशव्यर्थविवादास्पदनादं व्यतानीत् । अनधिकृतांचेन्नाश्व पर्यन्वितिष्ठत् यःखलु साधारणविदुषामपि षोडशीं कलांनार्हति कथंकारमिव परमतत्वदर्शिनो समधिगतयाथातथ्यस्य प्रकाण्डपण्डितमण्डलाखण्डलस्य महर्षे-

---

## " अथ भाष्यकरणशङ्कासमाधान विषय "

इस प्रकरण में तो आपने केवल यही लिखकर छोड़ दिया है कि दयानन्दने जितने मन्त्र उद्धृत किये हैं वे सब असङ्गत हैं । उनका अर्थ करनाही नहीं आया । जिज्ञासु लोगे स्वयं निरुक्त आदि ग्रन्थोंमें देखलें, यहां विस्तार भयसे नहीं लिखा जासकता । " अच्छासाहब देखलेंगे ? फिर आगे चलकर आपने लेक्चर शुरु कर दिया है हमें दुःखके साथ लिखना पडता है कि इस दयानन्द के ग्रन्थ को देखदेखकर और सारका लेश मात्रभी नपाकर जो हृदयमें खेद होताहै वह वर्णनातीत है । इत्यादि । इसके उत्तरमें हम इतनाही लिखदेना पर्याप्त समझते हैं । कि जिस ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाने योरोप के विद्वानोंके वेदोंके विषयमें बुरेविचारों को उड़ाकर उनके हृदयोंमें वेदोंका गौरव जमाया । मेक्समूलर जैसे

ानन्दकन्दस्य दयानन्दस्यतुलां स्प्रष्टुंसाभिलाषः सञ्जातइति नूनमाश्चर्यास्पदम् । किञ्च यदनुपदमेव लिखाति अधिकन्त्वस्माभिरपि ग्रन्थममुं द[...]र्शं खिन्नमनस्कैः सारलवमप्यत्रापश्यद्भिः परित्यज्यते । या कृ[...]वलोक्यात्रत्या विदेशीयाश्च विद्वांसः सचकिताः सन्तः कियन्तः सक्ष्वेडमाम्रेडयन्तो मुक्तकण्ठेन प्रशंसन्ति तामेवायमसारमकिञ्चित्करञ्च व्यपदिशाति । नूनमुपदिशतातिच यत् सद्व्यवहाराप्रवर्त्तकत्वात् पूर्वाचार्यादिसद्व्याख्याननुरोधित्वाच्च हेयपक्षएव निक्षेप्तव्योऽयमृग्वेदभाष्यभूमिकाग्रन्थः परिग्राह्यः सनातनो वैदिकधर्मः इति। परन्तु कोनामबुद्धिशालिजनोवराकस्यानिस्सत्वं तत्वमङ्गीकुर्यात् । महाशयया ! महर्षे ग्रन्थस्य विदुषां समाजे कालत्रयेप्येतादृशी भवदभिलापितावहेना न भवितुमर्हति नहि कुक्कुरभिया करिणो निजगाम्भीरां प्रगतिं परित्यजन्ति भवद्भिस्त्वयं ग्रन्थोहेयपक्षेनिक्षिप्तः किन्तु विद्वद्भिस्तु सुतरामुपादेय एव एतादृशोऽपूर्वोग्रन्थ इति सशिरोवन्दनमुपात्तः प्रयागराजीय विश्वविद्यालये इत्येतदेवास्य ग्रन्थस्य प्रामाण्यं किमतोऽधिकं भवितुमर्हति तत्र सुमहत्तरप्रमाणं तस्मादुपेयमेवेदं ग्रन्थरत्नम् प्रयत्नेनेत्यलंपल्लवितेन ।

---

विद्वान् मुग्ध होकर जिसको ' अतिमनोरञ्जक ' की पदवी देचुके हैं उसीके विषय में घनश्याम को खेद होता है ! और बड़े जोरोंसे लिखते ' कि ऐसे ग्रन्थोंका कभी आदर न होना चाहिए उनका सर्वदा परित्याग कर देना चाहिये क्यों कि इनसे सनातन धर्म्म की हानि होती है।" धन्यहो ! घनश्यामजी आपकी अकल मन्दीपर कुरबानजायें । क्यों नहो ! मगर अफसोस इतना आपके इस निर्घोषको सुनेगा कौन ? दुनियां अब अन्धी नहीं रही । आप कहते हो कि ऋग्वेदादि भूमिका का बायकाट करो किन्तु विद्वान्मण्डल उसको अपनता जाता है । देखो इलाहबाद यूनिवर्सिटीने बडेसम्मानके साथ इस ग्रन्थको अपनी पाठ्यप्रणालिमें लेलिया है । ग्रन्थकी उत्तमतामें इससे अधिक और क्या प्रमाण होसकता है ? इस लिये यह ग्रन्थरत्न उपादेय ही है हेय नहीं । इति शम् ।

# अथ संस्कृतशुद्धाशुद्धपत्रम् ।

| पृष्ठाङ्काः | पङ्क्ति संख्या | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| ५ | ९ | अवयवायविनो | अवयवावयविनो |
| ६ | ३ | कक्त्वा | कत्वा |
| ११ | २ | कला | कवित्वकला |
| १४ | ८ | सुमापितं | सुभाषितं |
| १६ | २ | लोचनाम्यां | लोचनाभ्यां |
| ,, | ८ | शुमम् | शुभम् |
| २४ | ५ | ज्ञात्व | ज्ञत्व |
| ३१ | ९ | वोध्य | वोध्य |
| ४२ | ६ | च्छुत्वा | च्छुत्वा |
| ,, | ९ | संश्लिष्येत् | संश्लिष्येत |
| ४८ | ८ | मुहुर्मुहू | मुहुर्मुहु । |
| ५५ | २ | वादितव्यं | वेदितव्यं |
| ५६ | ७ | नित्यत्व | नित्यत्वं |
| ६१ | २ | किञ्चिदनुपपद्यते | किञ्चिन्नोपपद्येत । |
| ६४ | १२ | ह्यि | ह्य |
| ६८ | ३ | त्रीहि | व्रीहि |
| ७० | २ | वाच्य | वाच्यं |
| ,, | ११ | मुरव्यत्व | मुख्यत्वे |
| ७४ | १ | विचक्षण | विचक्षणै |
| ,, | १० | जृम्मते | जृम्भते |
| ७६ | १२ | न्यास्वद्यन्ते | आस्वाद्यन्ते |
| ७८ | ५ | तत्र | स्तत्र |
| ८१ | ९ | उपयोगिना: | उपयोगिनी |
| ८२ | ८ | सम्म | सम्भवा |
| ८६ | १ | तदिन्द्रिय | दतीन्द्रिये |
| ८८ | १ | सममवति | सम्भवति |
| ,, | ७ | प्रयोजनता | प्रयोजनका |
| ९९ | ९ | ततुरूषेण | तत्पुरुषेण |
| १०३ | १ | सहस्रेणापीति | सहस्रेणापीति |
| | ३ | श्रीमतामव | श्रीमतामेव |
| | ५ | रति | रिति |

| पृष्ठाङ्काः | पंक्तिसंख्याः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १०५ | ७ | त्रैकालिकथा | त्रैकालिकार्थ । |
| १०६ | २ | पुराण | पुराणम् |
| १०९ | ९ | व्याम् | व्योम् |
| ११५ | ४ | दया नन्दस्य | दयानन्दस्य |
| १२५ | १ | भेदातिति | भेदादिति |
| १३५ | ५ | वरीवर्त्ति | वरीवर्ति |
| १३१ | २ | तु | |
| १३५ | ८ | समाधिगत | न समधिगतः |
| ,, | ,, | प्रण्डित | पण्डित |
| १४१ | २ | अभ्यूपगम | अभ्युपगम |
| ,, | ५ | प्रसिद्ध | प्रसिद्धाः |
| ,, | ८ | विद्वद्दन्यः | विद्वद्वन्यः |
| १५३ | २ | महर्षेःयदि | महर्षेर्यदि |
| १५५ | ६ | समाधेया । | समाधेयाः । |
| १५६ | ३ | यास्की | यास्को |
| १५५ | १ | सुम्पन्नत्वा | सम्पन्नत्वा |
| ,, | ६ | प्रयोगस्य | प्रयोगस्य |
| १५८ | ३ | नो | ने |
| ,, | ४ | महर्षे | महर्षेर्ग्रन्थ |
| ,, | ८ | स्त | स्ते |
| १६२ | २ | अधिकारवान् | अधिकारवन् |
| ,, | १३ | यौक्तिकि | यौक्तिका |
| १६५ | २ | अपगतादकके | अयगतोदकार्थ |
| १६६ | ६ | वाह्यम् | वोह्यम् |
| ,, | ८ | विद्वाद्भिः | विद्वाद्भिः |
| ,, | ११ | साधिक्य | साधिका |
| १६६ | १४ | पर्यान्विष्ठत् | पर्यन्वातिष्ठत् |
| १६७ | १० | महाशया | महाशय |
| ,, | ११ | अवेहूना | अवेहलना |
| ,, | १६ | उपेयमेव | उपादेयमेव |

# आर्यसिद्धान्तग्रन्थावलिः

इस ग्रन्थावलि का प्रथम पुष्प 'भूमिका प्रकाश' आपके समर्पित है। इस ग्रन्थावलिका उद्देश केवल आर्य सिद्धान्तों की पुष्टिमें उच्चकोटि के ग्रन्थों का सम्पादन तथा वैदिकसाहित्य एवं आर्ष ग्रन्थोंका प्रकाशन करना है

स्थायी ग्राहकोंको ग्रन्थ पौने ¾ मूल्यमें दिया जायगा आशा है आर्य सिद्धान्त तथा वैदिक साहित्यके प्रेमी आर्य बन्धु इस शुभ कार्य में हमारा हाथ बटाकर अवश्य अनुग्रहीत करेंगे।

रु० १) फीस देकर स्थायी ग्राहकों में अपना नाम दर्ज करासकते हैं। जो पुस्तक मूल्यमें मुजरा देदिया जायगा।

## निम्न लिखित ग्रन्थ यथाक्रम प्रकाशित होंगे।

१—'भूमिका प्रकाश' (प्रकाशित हो चुका है)

२—श्रीमद्दयानन्द तथा श्री शङ्कराचार्य

३—श्रीमद्दयानन्द तथा अन्यवेदभाष्यकार

४—जगद्गुरुओंमें महर्षि का स्थान

५—वैदिक—त्रैतवाद

६—आर्य—स्मृति आदि

पत्रव्यवहार निम्नपतेपरः—

**पण्डित द्विजेन्द्रनाथ वेदशास्त्री**

२१० कालबादेवी रोड,

मुम्बई नं० २

रणत्वलकस्यास्तिकस्यानभिमतम् । केवलपरमाणुजगत्कारणवादस्तु तादृशाक्षेपार्ह एव । नच न महर्षिणा तथोद्घोपितमसति तथा, तस्य नास्तिकमतानुप्रवेशं विरचयतांभवतामेव तत्र प्रवेशः सञ्जातः ? । नत्वास्तिकशिरामेणे र्महर्षेदयानन्दस्य । नचतादृशपरमाणुसमूहेभ्यो दृश्यघटपटादि पदार्थानामप्रत्यक्षापत्तिरितिवाच्यम् ? महत्वोद्भूतरूपवत्त्वस्य संख्यापरिणतस्य, तादृशप्रत्यक्षे कारणत्वस्य सर्वशिष्टसम्मतत्वात् । वस्तुतस्तु प्रत्येकस्मिन् परमाणावनुद्भूतरूपमस्ति मिलित्वानेकसंख्यापन्नपरमाणुषु तदेवोद्भूततां यातीति रहस्यम् । तस्माद्यत्किञ्चिन्मुनिदयानन्देनात्रनिगदितन्तत्सर्वं यौक्तिकम् ।

१ अन्यत्र 'वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव " इति यदिदमुच्यते तदप्यविदितशास्त्रवृत्तान्तस्यैव परं शोभते । वायोः प्रत्यक्षता नास्त्येवेति केचित् तत्प्रत्यक्षवादिमतेऽपि न घ्राणेन्द्रियविषयता तत्र घ्राणे-

---

यह कहना तो आक्षेपके योग्यही है । और स्वामीजीने वैसा अर्थ किया नहीं है । तो ऐसा होनेसे स्वामीजीके ऊपर नास्तिक मत प्रवेशका आक्षेप करनेवाले आपकाही नास्तिक मतमें प्रवेश सिद्ध होता है । नकि आस्तिकोंमें शिरोमणि स्वामी दयानन्दका और न अदृश्य परमाणुसमूहसे दृश्यघट पटादिकोंकी अप्रत्यक्षता होगी ऐसा कहना चाहिये । क्योंकि उद्भूत रूपवत्त्व महत्त्व ही प्रत्यक्ष में कारण हैं यह सर्व संमत है । और सारांश तो यह है कि प्रत्येक परमाणुमें अनुद्भूत रूपवत्व रहता है वेही परमाणु मिलकर अनेक संख्यापन्न होकर उद्भूतरूपवत्वको धारण करते हैं तभी दीखते हैं । इससे जो कुछ इस विषयमें स्वामीजीने कहा है वह युक्ति पूर्वक है ।

और वायु दूरस्थित मनुष्यके नासिकासे संयुक्त होता है वह ही यहां सुगन्धि वायु है यदि ऐसा कहाजायतो यहभी शास्त्रसिद्धान्तसे वंचित पुरुषको अच्छा लगा । और किसीका मत है कि वायु प्रत्यक्ष होताही नहीं और